साहित्य-दर्पणसार-संग्रहः

(विश्वनाथ कविराज विरचित 'साहित्य दर्पण' सार संक्षेपात्मक)

संग्रहकार :

डा० सत्यव्रत सिंह

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय,

लखनऊ

मालवीय पुस्तक केन्द्र

अमीनाबाद, लखनऊ।

● प्रकाशक
प्रकाशन केन्द्र
अमीनाबाद, लखनऊ

● प्रमुख विक्रेता
मालवीय पुस्तक केन्द्र
अमीनाबाद, लखनऊ

● मूल्य : दो रुपया पचास नये पैसे

● संस्करण : प्रथम १९६०

● मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस,
गोलागंज, लखनऊ

भूमिका के दो शब्द

संस्कृत के अलङ्कार शास्त्र में १३ वीं - १४ वीं शताब्दी के काव्य समीक्षक विश्वनाथ कविराज के 'साहित्य दर्पण' का एक विशेष स्थान और महत्त्व है। 'साहित्य दर्पण' से परिचित लोगों से यह छिपा नहीं है कि काव्य शास्त्र का यह मध्ययुगीन ग्रन्थ सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित ये विषय यही प्रमाणित करते हैं कि संस्कृत की काव्य समीक्षा के ज्ञान के लिये इसका अध्ययन बहुत ही उपयोगी है—

क. जिसे 'काव्य' कहते हैं वह 'रसात्मक' वाक्य है।

ख. 'काव्य' से ही मनुष्य का जीवन सरल और सबल बनता है।

ग. मनुष्य जीवन के लिये 'काव्य' एक बहुत बड़ा आशीर्वाद है।

घ. कवि की आत्म-शक्ति से 'काव्य' में वह शक्ति आती है जिससे प्रति दिन के व्यवहार में आने वाले शब्द और अर्थ एक अलौकिक सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

ङ. काव्य के पढ़ने वाले काव्य में जितनी तन्मयता रखते हैं उसके अनुपात में उनका लाभ कई गुना अधिक होता है।

च. काव्य में जो आनन्द मिलता है वह एक अद्‌भुत अनुभव है।

छ. वात्सल्य भाव की अभिव्यञ्जना भी कवि की कलाकृति है।

ज. मानव जीवन की बहुमुखी अनुभूतिओं के बिना 'काव्य' नहीं रचा जा सका।

झ. मानव जीवन के आदर्शों की कसौटी पर कसे गिना 'काव्य' का महत्त्वाङ्कन संभव नहीं।

ञ. कवि और नट की 'रूपक' और 'अभिनय'—कला का चमत्कार दृश्य काव्य के रूप में प्रकट होता है।

ट. जिसे 'महाकाव्य' कहते हैं वह श्रव्य काव्य की विशेषताओं का पूर्ण विकसित रूप है।

ठ. पद्य की भाँति गद्य भी 'काव्य' का एक माध्यम है।

ड. ध्वनिवाद की दृष्टि से भी, 'काव्य' के लिये 'रीति' अथवा रचना शैली उपेक्षित है ।

ढ. अलङ्कारों की योजना 'काव्य' के लिये होती है न कि अलङ्कारों के प्रदर्शन के लिये ।……इत्यादि 'साहित्य दर्पणसार संग्रह' नामक इस संकलन में साहित्यदर्पण के उपयु क्त सभी विषयों के प्रतिपादक अंश संगृहीत किये गये हैं । विश्वविद्यालयों की आरम्भिक संस्कृत-कक्षाओं के विद्यार्थिओं को संस्कृत के काव्यशास्त्र से परिचित होना अत्यावश्यक हैं क्यों कि बिना इसके संस्कृत के गद्य, पद्य और नाटक आदि का अध्ययन पूर्ण नहीं हो पाता ।

आशा और विश्वास है कि जिनके लिये यह 'संकलन' प्रस्तुत है उन्हें इससे लाभ ही होगा ।

सत्यव्रत सिंह

विषय-सूची

(पूर्वभागे)

प्रथम : परिच्छेद :

पृष्ठ

१ सरस्वती स्तुति : ३
२ काव्य प्रयोजन निरूपणम् ३-५
३ काव्यस्वरूप विवेक : ५-७

द्वितीय परिच्छेद :

४ वाक्य विचार : ८-९
५ पदविचार : ९-१०
६ अर्थविचार : १०-११

तृतीय परिच्छेद

७ रस स्वरूप विवेक : १२
८ करुणादिरसानां रसत्व साधनम् १३-१४
९ रत्यादिवासनयैव रसास्वाद : १५
१० विभाववर्णनम् १६
११ अनुभाव निरुपणम् १७
१२ व्यभिचारिभाव वर्णनम् .... ,,
१३ स्थायिभावाख्यानम् १८
१४ स्थायिभेद-तत्स्वरूप-वर्णनम् १९-२०
१५ रसभेदाख्यानम् २१

चतुर्थ : परिच्छेद :

१६ काव्यभेदवर्णनम् २२
१७ ध्वनिकाव्यनिरूपणम् .... ,,
१८ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य-
निरूपणम् २३
१९ चित्राख्य काव्यनिर्देशः २४

पंचम : परिच्छेद :

२० व्यञ्जनावृत्ति निरूपणम् २५-२६

षष्ठ : परिच्छेद :

२१ दृश्य श्रव्यकाव्यभेद-
वर्णनम् २७
२२ दृश्य काव्यप्रकार
निरूपणम् २७
२३ नाटक स्वरूपाख्यानम् २८
२४ नाटकेऽङ्कस्वरूपनिर्णयः २९
२५ नाटकविधाने-
पूर्वरङ्गाङ्ग-भूतनान्दीवर्णनम् .... ,,
२६ नाटकविधाने-
प्रस्तावनावर्णनम् ३०
२७ नाटके वस्तुद्वैविध्यम्
२८ नाटकेऽर्थोपक्षेपकयोजन-
प्रयोजनम् ३१
२९ अर्थोपक्षेपकेषु
विष्कम्भक प्रवेशकौ ३२
३० नाटके संधिवर्णनम् ३३
३१ नाट्योक्तिनिरूपणम् .... ,,
३२ श्रव्यकाव्य वर्णनम् ३४

३३ पद्यमयश्रव्यकाव्य भेद निरूपणम् .... ,,

३४ महाकाव्यम् ३५

३५ खण्डकाव्यम् ३६

३६ गद्यवर्णनम् .... ,,

३७ गद्यकाव्य भेदेषु कथावर्णनम् ३७

३८ आख्यायिकावर्णनम् ३८

३९ गद्यपद्योभयात्मकं काव्यम् .... ,,

(उत्तरभागे)

सप्तम : परिच्छेद :

४० दोष वर्णनम् ४३

४१ कतिपये पद-पदांश दोषाः ४३-४५

४२ कतिपये वाक्यदोषा : ४६-४८

४३ ,, अर्थदोषा : ४९

४४ ,, रसदोषा : ५०-५२

अष्टम : परिच्छेद :

४५ गुणनिरूपणम् ५३-५४

४६ माधुर्यवर्णनम् ५४-५५

४७ ओजोवर्णनम् ५५-५६

४८ प्रसादवर्णनम् ५६-५७

४९ एषां गुणानामुपचारत : शब्दगुनात्वम् ५७

नवम : परिच्छेद :

५० रीतिनिरूपणम् ५८

५१ वैदर्भीरीति वर्णनम् ५८-५९

५२ गौडीरीति वर्णनम् ५९
५३ पाञ्चालीरीतिवर्णनम् ५९-६०
५४ लाटीरीतिवर्णनम् ६०-६१
५५ संक्षेपत : रीति चतुष्टयस्य
स्वरूपवर्णनम् ६१

दशम : परिच्छेद :

५६ अलङ्कारस्वरूपविचार : ६२-६३
५७ शब्दालङ्कारेष्वनु प्रासमाह ६३
५८ अनुप्रासभेदेषु छेकानुप्रास : ६३-६४
५९ तत्र वृत्त्यनुप्रास : ६४-६६
६० यमकमाह ६६-६८
६१ श्लेषमाह ६८-६९
६२ अर्थालंकारेषूपमा
तद्भेदनिरूपणम् ६९-७५
६३ अनन्वय : ७५-७६
६४ उपमेयोपमा ७६-७७
६५ स्मरणालंकार : ७७
६६ रूपकम्, तद्भेदाश्च ७७-८३
६७ परिणाम ८३-८५
६८ संदेह : ८५-८७
६९ भ्रान्तिमान् ८७-८८
७० उल्लेख : ८८-८९
७१ अपह्नुति : ८९-९०
७२ उत्प्रेक्षा ९०-९२
७३ अतिशयोक्ति : ९२-९५
७४ तुल्ययोगिता ९५-९६
७५ दीपकम् ९६-९८

७६ प्रतिवस्तूपमा	......	......	९८-९९
७७ दृष्टान्त :	......	......	९९
७८ निदर्शना	......	......	१००-१०१
७९ व्यतिरेक :	......	......	१०१-१०२
८० सहोक्ति :	......	......	१०२-१०३
८१ विनोक्ति :	......	......	१०३
८२ समासोक्ति :	......	......	१०४-१०६
८३ अप्रस्तुतप्रशंसा	......	......	१०६-१०७
८४ व्याजस्तुति :	......	......	१०८-१०९
८५ अर्थान्तरन्यास :	......	......	१०९-११०
८६ विभावना	......	......	११०-१११
८७ विशेषोक्ति :	......	......	१११-११२
८८ एकावली	......	......	११२-११३
८९ स्वभावोक्ति :	......	......	११३-११४
९० संसृष्टि :	......	......	११४-११५
९१ संकर :	......	......	११५-११८

(पूर्वभागः)

प्रथमः परिच्छेदः

(पहला परिच्छेद)

१—सरस्वतीस्तुतिः

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान् प्रकाशयतु ।।१।।

१—सरस्वती की स्तुति

वह सरस्वती, जो शरद् ऋतु के चन्द्रमा की शुभ्र चन्द्रिका की सी कान्ति वाली है, मेरे मन में व्याप्त अज्ञानरूपी अँधेरे का नाश करे और उसमें (काव्य-साहित्य विषयक) सभी तत्त्वों को प्रकाशित कर दे ।

२—काव्यप्रयोजननिरूपणम्

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।२।।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्, इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्ति निवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उक्तं च—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥' इति ।

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वाच्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् ?

२—काव्य के प्रयोजन का निरूपण

काव्य से ही चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप फल की प्राप्ति, बिना किसी आयास के, साधारण बुद्धि वाले लोगों को भी हुआ करती है; इसलिए उसके स्वरूप का विचार किया जा रहा है ।

'राम इत्यादि की भाँति आचरण करना चाहिए, रावण आदि की भाँति आचरण न करना चाहिए'—इस रूप से, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के प्रति प्रवृत्त और अप्रवृत्त होने के उपदेश के द्वारा, काव्य से चतुर्वर्ग अथवा पुरुषार्थचतुष्टय का जैसा फल मिलता है वह वस्तुतः सर्वविदित है । इसीलिए कहा भी गया है—

'सत्काव्य का रचना (अथवा पढ़ना) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में तथा सभी कलाओं के विषय में व्युत्पत्ति प्रदान करता है, यश उत्पन्न करता है और आनन्द देता है ।'

वैसे तो चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति वेद और शास्त्र से होती है, किन्तु वेद और शास्त्र के नीरस होने के कारण, यह बड़े दुःख से होती है और उन्हीं लोगों के लिए सम्भव है जो परिणत बुद्धि अथवा परिपक्व ज्ञानवाले हुआ करते हैं। किन्तु परमानन्द संदोह के जनक होने के कारण, काव्य से जो चतुर्वर्गरूप फल की प्राप्ति होती है वह विना कष्ट के होती है, और सुकुमार बुद्धि अथवा कोमल मतिवाले लोगों को भी होती है।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि वेद और शास्त्र के रहते, परिपक्व बुद्धि वाले लोग, काव्य के प्रति प्रयत्नशील क्योंकर हों? वह रोग जो कि कड़वी दवा के सेवन से शान्त होता है यदि मीठी मिश्री-सी दवा से दूर हो जाय तो भला कौन ऐसा रोगी होगा जिसकी मीठी मिश्री-सी दवा के प्रति प्रवृत्ति अच्छी न मानी जायगी!

३—काव्यस्वरूपविवेकः

तत्किंपुनः काव्यमित्युच्यते—

वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥३॥

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात्।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते।

'रसध्वनिसम्प्रदाय' के लिए तो ठीक, पर काव्य-ग्रन्थ के अनेक विषयों से छूटता सा.

गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते ।

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे काव्यस्वरूपनिरुपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः ।

३—काव्य के स्वरूप का विवेक

अब 'काव्य' क्या है ? इसका विचार किया जा रहा है—

रसात्मक वाक्य को 'काव्य' कहते हैं । इसके अपकर्षकारक 'दोष' कहे जाते हैं और इसके जो उत्कर्षकारक हैं उन्हें 'गुण', 'अलङ्कार' और ' ' कहा जाता है ।

रस के स्वरूप का विचार आगे किया जायगा । रसात्मक वाक्य वह हुआ करता है जिसका वस्तुतः आत्मभूत अथवा साररूप होने के कारण जीवनाधायक तत्त्व 'रस' है । क्योंकि 'रस' के न रहने पर वह वाक्य 'काव्य' नहीं माना जाया करता ।

'श्रुतिदुष्टत्व', 'अपुष्टार्थत्व' आदि काणत्व और खञ्जत्व (काना होने और लंगड़ा होने) की भाँति हैं और जैसे काणत्व और खञ्जत्व शरीर में अपकृष्टता उत्पन्न करते हुये आत्मा को भी अपकृष्ट बना देते हैं वैसे ही श्रुतिदुष्टत्व और अपुष्टार्थत्व शब्द और अर्थ को अपकृष्ट बनाते हुये काव्य के सारभूत रस के भी अपकर्षक हो जाते हैं । इसी प्रकार व्यभिचारी भाव (जैसे कि निर्वेद, ग्लानि, स्मृति) आदि के वाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादन आदि को मूर्खता (कायरता) आदि की भाँति माना जाता है और जैसे मूर्खता आदि से साक्षात् आत्मतत्त्व में अपकर्ष आ जाता है वैसे ही व्यभिचारी भाव आदि के 'स्वशब्दवाच्यत्व' आदि के द्वारा साक्षात् काव्य के आत्मभूत रस में अपकर्ष हो जाना स्वाभाविक है । इसीलिए इन दोषों को काव्य का अपकर्षकारक कहा जाता है ।

(काव्य के) गुण (मनुष्य के) शौर्य आदि की भाँति हैं, (काव्य के) अलङ्कार (मनुष्य शरीर के) कटक, कुण्डल आदि आभूषण सरीखे हैं और (काव्य की रीतियाँ) मनुष्यशरीर के अङ्गविन्यास विशेष सी हुआ करती हैं। इन्हें काव्य का उत्कर्षकारक इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये (मनुष्य के) शरीर की भाँति शब्द और अर्थ (रूप काव्य-शरीर) को उत्कृष्ट बनाते हुए काव्य के आत्मभूत रस को भी उत्कृष्ट बनाया करते हैं।

साहित्यदर्पणसारसंग्रहः काव्यस्वरूपनिरुपण नामक पहला परिच्छेद समाप्त।

1. वीराद्भुतादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥
च. [illegible]
2. तथाहि काव्यान्तर्गतस्य रसस्यापकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यानित्यदोषव्यवस्थापि न स्यात्।
3. व्य. महिमभट्ट - काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः"
4. आ.व. - "नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मलाभो भवति- इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः।
5. रसपदेन असंलक्ष्यक्रमभेदानां सर्वेषां परिग्रहः - रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, 'रस आस्वादनस्नेहनयोः'।
भावादीनामपि आस्वादविषयत्वात्।
6. रस is neither वाच्यार्थ, nor वस्तु - अलङ्काररूप प्रतीयमान अर्थ but आत्मा साररूपतया - आनन्दसान्द्रत्वेन = जीवनाधायकः च "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"।
7. काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादसुखपिण्डदानद्वारा, [illegible] हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरपि [illegible] वाक्यतं काव्यतां -
8. व्यञ्जकतासंबन्धेन रसादिमद् वाक्यत्वं काव्यत्वं इत्यर्थः.

द्वितीयः परिच्छेदः

(दूसरा परिच्छेद)

१—वाक्यविचारः

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।
वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥१॥

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः। पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात्। आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः। निराकांक्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात्। आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः। बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चरितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चरितेन गच्छतीति पदेन संगतिः स्यात्।

१—वाक्यविचार।

अब 'वाक्य' का स्वरूप बताया जा रहा है—

'वाक्य' वह पद-समुदाय है जो योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त

1. स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया । cf. (तन्त्रवार्त्तिक p339)
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥ इति । तत्र वाक्यं यथा "शून्यं वासगृहं" इत्यादि । महावाक्यं यथा – रामायणमहाभारतरघुवंशादि ।
In the sense of महावाक्य (१) the रसात्मकवाक्य becomes a काव्य. hence रघुवंश etc. all are रसात्मक महावाक्य.

हुआ करता है। (योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त) वाक्य समुदाय को 'महावाक्य' कहते हैं। इस प्रकार वाक्य दो प्रकार के हैं।

2. पद्यते प्रत्याय्यतेऽनेनार्थ इत्यभिव्यक्तिसाधनं शब्दः पदम्

यहाँ 'योग्यता' कहते हैं पदार्थों के परस्पर संबन्ध में बाधा अथवा अनुपपत्ति के अभाव को। यदि इस 'योग्यता' के अभाव में भी पदसमूह को 'वाक्य' माना जाय तब 'बह्निना सिञ्चति' (आग से पौधा सींच रहा है) आदि पद समूह भी 'वाक्य' माने जाने लगेंगे (किन्तु ऐसे पद समूह को वाक्य नहीं माना जाया करता)। 'आकांक्षा' का अभिप्राय है प्रतीति अथवा ज्ञान की समाप्ति का न होना। 'ज्ञान की समाप्ति अथवा पूर्ति का होना' वस्तुतः श्रोता की जिज्ञासा का रूप है। इस 'आकांक्षा' के विना भी यदि पद समूह वाक्य होने लगें तब 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' (गाय, घोड़ा, आदमी, हाथी) आदि पद समूह भी वाक्य माने जाने लगेंगे (किन्तु ऐसे पद समूह जिनमें प्रत्येक में श्रोता की प्रतीति पूर्ण हो जाती है वाक्य नहीं माने जाते)। 'आसत्ति' का अर्थ है बुद्धि अर्थात् पदार्थों की उपस्थिति में विच्छेद अथवा रुकावट का न होना। यदि ऐसे पद-समूद को भी वाक्य माना जाने लगे जिनके अर्थों की उपस्थिति में विच्छेद अथवा व्यवधान होता हो, तब तो इस समय बोले गये 'देवदत्तः' (देवदत्त) पद का, दूसरे दिन बोले जाने वाले 'गच्छति' (जाता है) पद के साथ भी संबन्ध होना चाहिये (किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता)।

1. cf भाष्य० "नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः"

2. cf "ते (वर्णाः) विभक्त्यन्ताः पदम्" न्या. २.२.६०; सुप्तिङन्तं पदम् पा. १.४.१४; = a word is what is inflected; शक्तं पदम् – त.सं = A word is what has power or significance.

२—पदविचार[2]

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम्, तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थवाचकाः ।

यथा घटः । प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः । अनन्वितेति वाक्यमहावाक्ययोः । एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम् । अर्थ-बोधका इति कचटतपेत्यादीनाम् । वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

1. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा | A (i) आप्तवाक्याभ्यां संकेतमवधारयति (ii) प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहारात् (iii) आप्तोपदेशात्। B. शक्तिग्रह के और कारण – x

2. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः (१०) प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।

3. विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः। सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

२—पद-विचार ।

पहले कहा जा चुका है कि पदोच्चय अथवा पदसमूह 'वाक्य' है। अब 'पद' क्या है ? इसका विचार कर रहे हैं—

'पद' उन वर्णों को कहते हैं जो प्रयोग के योग्य तथा अनन्वित एक अर्थ के बोधक हुआ करते हैं। उदाहरण के लिये 'घटः' (घड़ा) यह वर्णसमूह 'पद' है। यहाँ (कारिका में) 'प्रयोगार्ह' इसलिये कहा गया जिससे 'प्रातिपदिक' (विभक्ति रहित) को 'पद' न माना जाय, 'अनन्वित' इसलिए कहा गया जिससे (परस्पर सम्बद्ध अर्थ के बोधक) 'वाक्य' और 'महावाक्य' को 'पद' न समझा जाने लगे, 'एक' इसलिए कहा गया जिससे परस्पर साकांक्ष अनेक 'पद' और अनेक 'वाक्य' को पद से व्यवच्छिन्न किया जा सके और 'अर्थबोधक' इसलिये कहा गया जिससे क, च, ट, त, प आदि वर्णों को पद न माना जाने लगे। यहाँ 'वर्णाः' में जो बहुवचन है वह विवक्षित नहीं है (अर्थात् प्रयोगयोग्य किंवा अनन्वित एक अर्थ का बोध कराने वाले, अनेक वर्ण ही 'पद' नहीं कहे जाते अपितु ऐसे एक अथवा दो वर्ण भी 'पद' ही माने जाते हैं जैसे कि प्रयोगयोग्य तथा दूसरे किसी पदार्थ से अनन्वित, एक अर्थ के बोधक 'घटः' ये दो वर्ण 'पद' हैं)।

4. अभिधा अव्यवहित, अन्य शक्तियाँ व्यवहित।

३—अर्थविचारः ।

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः ॥२॥

एषां स्वरूपमाह—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यः
लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्यु-
स्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥३॥

+ अभिहितान्वयवादिनां मते पदाभिधेयो वाच्यार्थः। अन्विताभिधानवादिनां मते च वाक्याभिधेयः।
\# लक्ष्यश्च पदमात्रस्यार्थः।
x. व्यङ्ग्यश्च वर्णपदवाक्यादीनाम्।

3-a. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिस्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

* शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

३ अर्थ-विचार ।

(पद विचार के प्रसंग में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग हो चुका है इसलिये 'अर्थ' क्या है ? इसका निरूपण किया जा रहा है)—

'अर्थ' के तीन भेद है—(१) वाच्य, (२) लक्ष्य और (३) व्यङ्ग्य ।

इनका स्वरूप यह है—

(१) 'वाच्य' वह अर्थ हुआ करता है जो 'अभिधा' द्वारा बोधित हो, (२) 'लक्ष्य' अर्थ वह है जिसका ज्ञान 'लक्षणा' द्वारा होता है और (३) 'व्यङ्ग्य' वह अर्थ है जिसकी प्रतीति 'व्यञ्जना' द्वारा होती है। ये तीन अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शब्द की शक्तियां कही जाती हैं ।

साहित्यदर्पणसारसंग्रहः वाक्यस्वरूपनिरूपण नामक दूसरा परिच्छेद समाप्त ।

1. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
2. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ध. 1. 5.
3. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् । 1. 7
4. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः । 1. 9.

तृतीयः परिच्छेदः

(तीसरा परिच्छेद)

१—रसस्वरूप-विवेकः

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥१॥

विभावादयो वक्ष्यन्ते। सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वान्न पृथगुक्ताः। व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः। न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।

१—रस के स्वरूप का विवेक।

(रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं—यह पहले परिच्छेद में बता चुके हैं।) अब यह बताना आवश्यक है कि 'रस' क्या है—

सहृदयों के हृदय में विराजमान (वासना रूप से अवस्थित) 'रति' 'हास', 'शोक' आदि जो स्थायी भाव हैं वे ही विभाव, अनुभाव और संचारी (अथवा व्यभिचारी) भावों के द्वारा अभिव्यक्त होने पर 'रस' रूप

में परिणत हो जाते हैं (अर्थात् आनन्द देने लगते हैं और इसी लिये 'रस' कहे जाया करते हैं)।

('विभाव' आदि का निरूपण आगे किया जायगा।) प्राचीन आचार्यों के अनुसार स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भाव भी रस की अभिव्यक्ति के हेतु माने गये हैं किन्तु यहाँ सात्त्विक भावों को रसाभिव्यक्ति के हेतु रूप में पृथक् नहीं गिनाया गया क्योंकि ये वस्तुतः अनुमान तुल्य ही हैं। 'व्यक्तः' का अभिप्राय यह है कि जैसे 'दही' आदि 'दूध' आदि का ही रूपान्तर परिणाम हैं वैसे ही 'रस' भी रत्यादि स्थायी भाव का ही अभिव्यक्त रूप अथवा रूपान्तर परिणाम है। ऐसा नहीं कि जैसे पहले से अवस्थित (संतमसावृत) 'घट' दीपक द्वारा प्रकाशित होता है वैसे 'रस' भी पहले से अवस्थित वस्तु है जिसे विभावादि प्रकाशित (अथवा अभिव्यक्त) कर दिया करते हैं।

२—करुणादिरसानां रसत्वसाधनम्।

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं न स्यादित्युच्यते—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥२॥

आदि शब्दाद्बीभत्सभयानकादयः।

किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।

नहि कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव।

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।
हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ॥३॥

शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ॥४॥

सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ।
अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः ॥५॥

२—करुण आदि में भी आनन्दानुभव की सिद्धि ।

(‘रस’ आनन्दात्मक अनुभव है—ऐसी स्थिति में) करुण आदि रस, जो कि दुःखमय प्रतीत होते हैं क्योंकर ‘रस’ कहे जा सकते हैं ? इस शङ्का का समाधान किया जा रहा है—

‘करुण’ आदि रसों में भी जो आनन्द मिलता है, उसमें एक प्रमाण है और वह प्रमाण सहृदयों का अनुभव है ।

यहाँ (‘करुणादौ’ में) ‘आदि’ शब्द के प्रयोग से (करुण के अतिरिक्त) वीभत्स, भयानक आदि रसों का भी ग्रहण होता है ।

साथ ही साथ यहाँ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि यदि ‘करुण’ आदि रसों में दुःख का अनुभव होता तो सहृदयजन करुणात्मक काव्य अथवा नाट्य के प्रति कभी भी उन्मुख न होते ।

ऐसा कौन समझदार व्यक्ति होगा जो स्वयं अपने दुःख के लिये लालायित हो! किन्तु जैसा कि यह स्पष्ट देखा जाता है कि करुणादिरसात्मक काव्य-नाट्य के प्रति [सभी सहृदय बड़े मनोयोग से प्रवृत्त होते हैं, यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि करुणादि रस आनन्द रूप ही हुआ करते हैं ।

एक बात और भी है कि यदि करुण रस को दुःख रूप माना जाय तब (करुणात्मक) रामायण आदि महाकाव्य भी दुःखजनक ही माने जायेंगे ।

(किन्तु ऐसी बात नहीं क्योंकि) लोक-जीवन के संपर्क के कारण, भले ही लोक में, शोक और हर्ष आदि के जो भी कारण हों उनसे लौकिक

शोक और हर्ष आदि उत्पन्न हुआ करें, किन्तु जबकि काव्य (अथवा कला) के संबन्ध से, ये ही शोक और हर्ष आदि के कारण, काव्य में, अलौकिक विभाव आदि रूप में परिणत होकर आनन्द उत्पन्न करते हैं तो इसमें आपत्ति क्योंकर हो !

(यहाँ यह शंका भी निर्मूल है कि जबकि कारण आदि के अनुभव में आंसू गिरते हैं तब यह अनुभव आनन्दात्मक नहीं हो सकता ।) यहाँ वस्तुतः बात यह है कि ये आंसू दुःख के आंसू नहीं अपितु आनन्द के आंसू होते हैं क्योंकि करुण के प्रभाव में हृदय प्रसन्नता से पिघल उठता है ।

३.—रत्यादिवासनयैव रसास्वादः

तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषामीदृशी रसाभिव्यक्तिर्न जायत इत्यत आह—

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ।

उक्तं च धर्मदत्तेन—

'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः ॥'

३—रसास्वाद का एकमात्र कारण रत्यादि की वासना

यहां यह कहा जा सकता है कि जब कि काव्य रसात्मक होता है तब उससे सभी को रसास्वाद क्यों कर नहीं मिलता ? इसका उत्तर यह है—

रत्यादि मनोभावों की वासना (विशिष्ट संस्कार) के विना रसास्वाद नहीं मिल सकता ।

इसीलिये धर्मदत्त का कहना है—

'उन्हीं सामाजिकों अथवा सहृदयों को रस का आस्वाद मिलता है जिनमें रत्यादि भावों के संचित संस्कार रहा करते हैं। ऐसे लोग जिनमें रत्यादि भावों की वासना नहीं होती, सामाजिक अथवा सहृदय नहीं अपितु नाट्यशाला के लक्कड़ और पत्थर और दीवार हैं (निर्जीव हैं)।

४—विभाववर्णनम

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥६॥
आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ।
उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥७॥

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।

४—विभाव-वर्णन

लोक जीवन में (राम आदि के) रत्यादि भावों के उद्बोध के जो कारण हैं (जैसे कि सीता आदि) वे ही काव्य-नाट्य में 'विभाव' कहे जाते हैं (क्योंकि इन्हीं के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप से विराजमान रत्यादिभाव इस योग्य बनाये जाते हैं जिसमें उनसे आस्वाद मिल सके)। विभाव के दो भेद हैं—१ला आलम्बन विभाव और २रा उद्दीपन विभाव। इनमें नायक आदि (अर्थात् नायिका, प्रतिनायक प्रभृति) को आलम्बन विभाव कहते हैं क्योंकि इन्हीं के आश्रय से रस का उद्भव होता है। और 'उद्दीपन' विभाव वे हैं जो कि रस को उद्दीप्त किया करते हैं। 'उद्दीपन' विभाव में आलम्बन अर्थात् नायक-नायिका आदि की चेष्टा में, उचित स्थान तथा उपयुक्त समय आदि (अर्थात् चन्द्रमा, चांदनी, कोयल की कूक प्रभृति) अन्तर्भूत हैं।

५.—अनुभावनिरूपणम्

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥८॥

यः खलु लोके सीताचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै रामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्य-नाट्ययोः पुनरनुभावः ।

५—अनुभाव-निरूपण

लोक जीवन में, उन कारणों से उद्बुद्ध रति आदि स्थायी भावों को बाहर प्रकाशित करने वाला किंवा उन्हीं रति आदि भावों का जो कार्य है वही काव्य-नाट्य में निवेशित होने पर 'अनुभाव' कहलाता है ।

अभिप्राय यह है कि लोक में सीता आदि आलम्बन कारण तथा चन्द्र-चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारण से राम आदि के हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकट करने वाला, उन्हीं रत्यादि भावों का जो कार्य होता है वही काव्य-नाट्य में निविष्ट होने पर 'अनुभाव' कहा जाता है ।

६. व्यभिचारिभाववर्णनम्

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः ।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥९॥

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते ।

६—व्यभिचारी भाव का वर्णन

'व्यभिचारी' भाव वे हैं जो, विशेष रूप से किंवा सहायक रूप से, स्थायी भावों में डूबते-उतराते, सदा उन्हीं के साथ रहा करते हैं। ये व्यभिचारी भाव ३३ प्रकार के हैं।

अभिप्राय यह है कि स्थिर रूप से रहने वाले रत्यादि स्थायी भावों से आविर्भूत होने किंवा इन्हीं में तिरोभूत होने के कारण, इनके सहायक रूप से रहने वाले 'निर्वेद' (आत्मावमानन) आदि भाव ऐसे हैं जो 'व्यभिचारी' (अथवा संचारी) भाव कहे जाया करते हैं।

७—स्थायिभावाख्यानम् ।

अथ स्थाभिभावः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ॥१०॥

यदुक्तम्—

'स्रक्सूत्रवृत्त्या भावनामन्येषामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥

७—स्थायी भाव का वर्णन

'स्थायी' भाव वह भाव है जिसे, अनुकूल अथवा प्रतिकूल, कोई भी भाव दबा अथवा छिपा नहीं सकते और जो कि वस्तुतः रसास्वाद के अंकुर का कन्द अथवा जड़ हुआ करता है। इसीलिये ऐसा कहा गया है—

1· कुछ आचार्य 'निर्वेद' को ९ वें स्थायीभाव मानते हैं और कुछ 'शम' को

'स्थायी भाव ऐसा होता है जो कि माला के फूलों में सूत की भांति अन्य सभी भावों में अनुगत रहा करता है और जिसे अन्य भाव दबाते नहीं, परिपुष्ट ही किया करते हैं।

८—स्थायिभेद-तत्स्वरूपवर्णनम् ।

तद्भेदानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ।।११।।

तत्र—

रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।
वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो हास इष्यते ।।१२।।
इष्टनाशादिभिश्चेतो वक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ।।१३।।
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम् ।।१४।।
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।।१५।।
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ।।१६।।

यथा मालतीमाधवे रतिः । लटकमेलके हासः । रामायणे शोकः । महाभारते शमः । एवमन्यत्रापि । एते ह्येतेष्वन्तरा उत्पद्यमानैस्तैस्तैर्विरुद्धैरविरुद्धैश्च भावैरनुच्छिन्ना प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभवसिद्धाः ।

८-- स्थायी भावों के भेद और उनका स्वरूप ।

स्थायी भाव के ये भेद हैं— १–रति, २–हास, ३–शोक ४–क्रोध, ५–उत्साह, ६--भय, ७-- जुगुप्सा, ८–विस्मय और ९--शम ।

इनमें—

१—'रति' वह स्थायी भाव है जिसे मन के अनुकूल वस्तु में मन का रमना कहा करते है ।

२— 'हास' वह है जो कि किसी की बोल चाल, वेष-भूषा आदि की विकृतिओं को देखकर चित्त का विकसित होना कहा जाता है ।

३—'शोक' का अभिप्राय इष्टनाश आदि के कारण होने वाला चित्त का वैक्लव्य है ।

४—'क्रोध' वह है जो कि प्रतिकूल अर्थात् शत्रुता आदि के रखने वाले के प्रति चित्त में तीक्ष्णता (कटुता) का उद्भव कहा जाता है ।

५—'उत्साह' का अर्थ कार्यारम्भ के प्रति, चित्त में स्थिर संरभ अथवा दृढ़ आवेश है ।

६—किसी रौद्र अथवा भीषण वस्तु की शक्ति से उत्पन्न तथा चित्त को व्याकुल बनाने वाला भाव 'भय' कहा जाता है ।

७—'जुगुप्सा' वह है जो कि किसी वस्तु के प्रति उसमें दोष-दर्शन आदि से उत्पन्न घृणा का भाव कहा जाता है ।

८—'विस्मय' का अभिप्राय उन अलौकिक पदार्थों के देखने आदि से उत्पन्न चित का विस्तार है ।

९—'शम' स्थायी भाव वीतराग होने की स्थिति में, अपने आप में रमण करने वाले (अन्तर्मुख) मन का एक सुख विशेष हैं।

उदाहरण के लिए—

'मालतीमाधव' (महाकवि भवभूति-रचित प्रकरण) में जों स्थायी भाव अभिव्यक्त हुआ है वह 'रति' है। 'लटकमेलक' (शङ्खधर-रचित प्रहसन में) अभिव्यक्त स्थायी भाव 'हास' है। रामायण (महर्षि वाल्मीकि-कृत आदि-काव्य) में जिस स्थायी भाव की अभिव्यञ्जना है वह 'शोक' है। महाभारत (महर्षि व्यास-रचित महान् शास्त्र-काव्य) में अभिव्यक्त स्थायी भाव 'शम' है। इसी भांति अन्य काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धों में अभिव्यक्त स्थायी भाव जाने जा सकते हैं। उपर्युक्त प्रबन्धों में अभिव्यक्त ये भाव 'स्थायी भाव' हैं क्योंकि इनके बीच बीच में आने जाने वाले अनुकूल या प्रतिकूल भाव इन्हें उच्छिन्न नहीं करते अपितु इनका परितोष ही करते प्रतीत होते हैं, जैसा कि सहृदयों के अनुभव से ही प्रमाणित है।

९—रसभेदाख्यानम्।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥१७॥

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः।

६—रसभेद का निरूपण।

'रस' के नौ भेद हैं—१-शृङ्गार, २-हास्य, ३-करुण, ४-रौद्र, ५-वीर, ६-भयानक, ७-बीभत्स, ८- अद्भुत और ९- शान्त।

साहित्यदर्पणसारसंग्रहः रसादिनिरूपण नामक तीसरा परिच्छेद समाप्त।

———

1. सा.द. के अनुसार दो ही भेद; चित्रकाव्य 'रसात्मक काव्य' के अंतर्गत संभव नहीं
cf आ.व. १.१३, "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः)
आ.व. ३.३४ - "प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्।
मम्मट की परिभाषा में 'शब्दार्थ' मूल होने के कारण उत्तम, मध्यम, अधम भेद संभव है। विश्व० को भी रसत्व आत्मतत्व के अभिव्यंजक वाक्यों के तारतम्य का विचार करना चाहिए था। 'ध्वनि' और 'गुणीभूत व्यंग्य' काव्य प्रकार तो माने नहीं जा सकते। यदि मान भी लिए जाएँ तो रसत्व तत्व की दृष्टि से दोनों में क्या भेद रहा। आ० मानते हैं कि 'गुणीभूत व्यंग्य' नामक प्रकार भी रसादि तात्पर्य पर्यालोचना से ध्वनि का भेद ही अंतर्भूत है।
४ प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥

चतुर्थः परिच्छेदः

(चौथा परिच्छेद)

१—काव्यभेदवर्णनम्

अथ काव्यभेदमाह—

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम् ।

१—काव्यभेद का वर्णन

(उपर्युक्त दृष्टि से) काव्य के भेद बताते हैं—

'काव्य' के दो प्रकार हैं—१ला 'ध्वनि' काव्य ओर २रा 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य।

२—ध्वनिकाव्यनिरूपणभ

तत्र—

वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥१॥

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम्। ४ निःशेषच्युतचन्दनं इत्यादिश्लोकमत्र प्रकाश्यते।
अत्र अंशपाठः।
अतीव विस्तृतकाव्य

२—'ध्वनि' काव्य का निरूपण

'ध्वनि' वह काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय अथवा चमत्कारजनक हुआ करता है। यह काव्य 'उत्तम' काव्य कहा जाया करता है।

'ध्वनि' शब्द की 'ध्वन्यतेऽस्मिन्' (जिसमें रमणीय अर्थ अभिव्यक्त होता है) इस व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है कि 'ध्वनि' काव्य उत्तम काव्य है क्योंकि इसी काव्य में वह अर्थ अभिव्यङ्ग्य होता है जो कि वाच्यार्थ से विशेष चमत्कारकारक हुआ करता है।

३—गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यनिरूपणम्

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्—

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये

अपरं काव्यम्। अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति।

३—'गुणीभुतव्यङ्ग्य' काव्य का निरूपण

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य का स्वरूप बता रहे है—

दूसरे प्रकार का काव्य 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक सुन्दर नहीं लगा करता।

यहाँ 'अपरम्' का अर्थ दूसरे प्रकार के 'काव्य' का है। वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ की 'अनुत्तमता' का अभिप्राय व्यङ्ग्य अर्थ की (चमत्कार की दृष्टि से) 'न्यूनता' अथवा 'समानता' का है।

४—चित्राख्यकाव्यनिर्देशः

केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति । तदाहुः—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।'

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यकाव्यभेदनिरूपणो नाम चतुर्थः परिच्छेदः ।

४—'चित्र' नामक काव्य-प्रकार का निर्देश

कुछ काव्याचार्य 'चित्र' नामक एक तीसरा काव्य-प्रकार भी मानते हैं । जैसा कि (काव्यप्रकाशकार मम्मट ने) कहा है—

'चित्र काव्य (शब्द-चित्र अथवा अर्थ-चित्र) वह काव्य है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ नहीं रहा करता । यह काव्य 'अवर' अथवा 'अधम' काव्य कहा जाता है ।

साहित्यदर्पणसारसंग्रहः ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप काव्य-भेद निरूपण नामक चौथा परिच्छेद समाप्त ।

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥ ध्वनि.
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥ ध्वनि.
४ लक्ष्मी - न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः । किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारं अर्थालङ्कारं वा उपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते ।

पञ्चमः परिच्छेदः

(पांचवां परिच्छेद)

१—व्यञ्जनावृत्तिनिरूपणम्

अथकेयमभिनवा व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥१॥
सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः ॥२॥

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे व्यञ्जनाव्यापारनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।

१—'व्यञ्जना' वृत्ति का निरूपण

अब यह बता रहे हैं कि वह नयी 'वृत्ति' अथवा 'शक्ति' क्या है जिसे 'व्यञ्जना' कहा जाया करता है—

'जबकि अविधा, तात्पर्य तथा लक्षणा नाम की वृत्तियां या शक्तियां अपना अपना कार्य कर चुकती हैं तब एक चौथी वृत्ति का मानना अनिवार्य

हो जाता है जिससे रस-भाव आदि का अवबोध हो सके। इस चौथी वृत्ति को ही काव्याचार्य लोग 'व्यञ्जना' वृत्ति कहा करते हैं। कुछ ऐसे भी काव्याचार्य हैं जो कि रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसे 'रसना' वृत्ति कहा करते हैं।

साहित्यदर्पणसारसंग्रहः व्यञ्जना-व्यापार-निरूपण नामक पांचवां परिच्छेद समाप्त।

1. साहित्यदर्पणकार ने यहाँ "दृश्य" और रूपक शब्दों को एकार्थवाचक भी माना है और परस्पर प्रवृत्तिनिमित्तभेद से भिन्नार्थक भी स्वीकार किया है। सामाजिक की दृष्टि से जो कृति है, 'दृश्य' अथवा 'रूप' (रूपं दृश्यतयोच्यते - दश. रू. १.७) है, वही अभिनेता की दृष्टि से 'अभिनेय' अथवा नाट्य (अवस्थानुकार = तादात्म्यापत्ति . द. रू. १.७) है।

" तदीदृशरसाधारं नाट्यं रूपकमित्यपि।
नटस्यातिप्रवीणस्य कर्मत्वान्नाट्यमुच्यते॥
यथा मुखादौ पद्मादेरारोपो रूपकं तथा।
तथैव नायकारोपो नटे रूपकमुच्यते॥"
रसार्णवसुधाकर: तृतीय विलास

2. अभिनय is explained as 'अवस्थानुकार' or 'अनुव्यवसायात्मक' अभिनय - सामाजिकमनोऽभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते ज्ञाप्यते ऽर्थो ऽनेन इत्यभिनयः।

3. रूपक के अतिरिक्त उपरूपकों की भी गणना - नाटिका, त्रोटक आदि। They are नृत्यरूप while रूपक is नाट्य.

षष्ठः परिच्छेदः

(छठा परिच्छेद)

१. दृश्यश्रव्यकाव्यभेदवर्णनम्

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्॥१॥

१—दृश्य और श्रव्य-रूप से काव्य के भेदों का वर्णन।

काव्य 'दृश्य' और 'श्रव्य' रूप से पुनः दो प्रकार का माना जाता है। 'दृश्य' काव्य वह है जिसका अभिनय किया जाय। 'दृश्य' काव्य को ही 'रूपक' भी कहा करते हैं क्योंकि इसके अभिनय करने वालों में, अभिनेय राम आदि के स्वरूप का आरोप अथवा काल्पनिक अभेद दिखाई दिया करता है।

२. दृश्यकाव्यप्रकारनिरूपणम्

रूपकस्य भेदानाह—

नाटकमथप्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥२॥

२—दृश्य काव्य अथवा रूपक का प्रकार-निरूपण

रूपक 'दृश्य' काव्य के ये भेद हैं—

१ नाटक, २ प्रकरण, ३ भाण, ४ व्यायोग, ५ समवकार, ६ डिम, ७ ईहामृग, ८ अङ्क, ९ वीथी और १० प्रहसन।

३. नाटकस्वरूपाख्यानम्

तत्र—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥३॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥४॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥५॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥६॥

३—नाटक का स्वरूप-वर्णन।

इन रूपकों में—

'नाटक' वह रूपक है जिसका वृत्त अथवा कथानक प्रख्यात अर्थात् ऐतिहासिक घटना के आधार पर रचे होने के कारण प्रसिद्ध हुआ करता है, जिसमें पांचों संधियां पायी जाया करती हैं, जिसमें विविध प्रकार के विलास किंवा ऐश्वर्य आदि नायक-गुणों का वर्णन रहा करता है, जिसमें सुख और

दुःख के उद्भव का चित्रण हुआ करता है और जो विविध प्रकार के रसों और भावों से ओत-प्रोत रहा करता है। नाटक में पाँच से लेकर दस तक 'अङ्क' हुआ करते हैं। इसके 'नायक' के लिए प्रख्यात वंश का धीरोदात्त, प्रतापी किंवा राजर्षि होना अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य कोई महापुरुष होना अपेक्षित माना गया है। इसमें एक ही रस, चाहे वह 'शृङ्गार' हो या 'वीर' हो, अङ्गी अथवा प्रधान रहा करता है और अन्य रस अङ्ग अथवा अप्रधान रूप से विराजमान रहते हैं। इसकी अन्तिम संधि अर्थात् 'निर्वहण' सन्धि में अद्भुत रस का संचार आवश्यक है।

४—नाटकेऽङ्कस्वरूपनिर्णयः

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥७॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥८॥
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः।

४—नाटक में 'अङ्क' क्या है ?

नाटक में 'अङ्क' ऐसा होना चाहिये जिसमें नायक के चरित का साक्षात्कार हो, रस-भाव का परिपाक हो, शब्द और अर्थ गूढ़ न हों, छोटे-छोटे समास-रहित (चूर्णक) गद्य-वाक्य हों, ऐसी कथा हो जो बहुत समय में न घटी हो, नायक संनिहित रहे, तीन या चार पात्र हों और अन्त में सभी पात्र रंगमंच से निकलते दिखाई दें।

५—नाटकविधाने पूर्वरङ्गाङ्गभूतनान्दीवर्णनम्

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥९॥

प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥१०॥
आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥११॥

५—नाटक-विधान में पूर्वरङ्ग तथा उसका आवश्यक अंग नान्दी

'नाट्य वस्तु' अर्थात् नाटक के अभिनय के पहले, नाट्यशाला के विघ्नों की शान्ति के लिये नट-नर्तक लोग जो कुछ क्रिया-कलाप करते हैं वह सब 'पूर्वाङ्क' कहा जाता है। वैसे तो इस 'पूर्वाङ्क' के प्रत्याहार (वाद्य-यन्त्रों का रंगमंच पर रखना) आदि अनेकानेक अङ्ग हुआ करते हैं, किन्तु रङ्गभूमि के विघ्नोपशमन के लिये, 'नान्दी' नामक अंग अवश्य संपन्न होना चाहिये। 'नान्दी' वह है जिसके द्वारा देव, द्विज, नृप आदि की आशीर्वाद-गर्भित स्तुति की जाया करती है।

६—नाटकविधाने प्रस्तावनावर्णनम्

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥१२॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥१३॥

६—नाटक-विधान में प्रस्तावना

'आमुख' अथवा जिसे 'प्रस्तावना' भी कहा जाता है, वह है जहां नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक, सूत्रधार के साथ विचित्र प्रकार से अपने-अपने कार्य से संबद्ध वार्तालाप किया करते हैं और उसके द्वारा प्रस्तुत वृत्त आदि की सूक्ष्म सूचना दे दिया करते हैं।

७—नाटके वस्तुद्वैविध्यम्

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।
आधिकारिकमेकं स्यात् प्रासङ्गिकमथापरम् ॥१४॥
अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥१५॥
अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते ।

७—नाटक में द्विविध 'वस्तु'

('प्रस्तावना' के बाद नाटक में) जो नाट्य वस्तु प्रयुक्त होती है वह दो प्रकार की बतायी गयी है—१ली आधिकारिक और २री प्रासङ्गिक। 'अधिकार' का अर्थ प्रधान फल का स्वामित्व है और 'अधिकारी' वह है जो इस फल का स्वामी हुआ करता है। इस प्रकार, इस अधिकारी पुरुष (नायक) से संबद्ध जो 'इतिवृत्त' होता है वह 'आधिकारिक' कहा जाता है और इसके उपकरणभूत अथवा सहायक इतिवृत्त को 'प्रासङ्गिक' कहा करते हैं।

८—नाटकेऽर्थोपक्षेपकयोजनप्रयोजनम्

अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च संमता ।
या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥१६॥
अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः ।

८—नाटक में 'अर्थोपक्षेपक की योजना और उसका उद्देश्य

नाटक में 'अर्थोपक्षेपक' वह है जिसके द्वारा नाटककार ऐसी कथा की

सूचना दिया करता है जो कि 'अङ्क' में प्रदर्शन के योग्य नहीं होती किन्तु जिसकी सूचना आवश्यक होती है अथवा जिसके घटित होने में दो दिन से लेकर एक वर्ष तक का समय लग जाता है अथवा जो कि बहुत विस्तृत हुआ करती है।

९—अर्थोपक्षेपकेषु विष्कम्भकप्रवेशकौ

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥१७॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः।
शुद्धः स्यात् स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥१८॥
प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥१९॥

९—अर्थोपक्षेपकों के 'विष्कम्भक' और 'प्रवेशक' नायक

(पांच प्रकार के जो 'अर्थोपक्षेपक' होते हैं उनमें) 'विष्कम्भक' वह है जो कि बीते हुये और आगे आने वाले कथांशों का सूचक तथा कथानक का संक्षेप करने वाला हुआ करता है। यह 'अंक' के आरम्भ में ही होता है। इसके दो प्रकार हैं—१ला 'शुद्ध' विष्कम्भक, जिसमें एक मध्यम पात्र या दो मध्यम पात्रों का प्रयोग किया जाता है और २रा 'संकीर्ण' अथवा 'मिश्र' विष्कम्भक, जिसमें नीच और मध्यम पात्र—दोनों प्रयुक्त होते हैं। 'प्रवेशक' वह है जिसका प्रयोग नीच पात्रों द्वारा होता है, जिसमें उक्तियां बहुत उत्तम नहीं होतीं और जो कि दो अङ्कों के बीच में रहा करता है। इसमें और बातें (जैसे कि भूत और भावी कथांशों की सूचना आदि) 'विष्कम्भक' सी ही होती हैं।

मुख्यप्रयोजनवशात् कथाङ्गानां समन्वये ।
अवान्तरार्थसंबन्धः सन्धिः सन्धानरूपतः ॥
मन्दारमरन्द

१०—नाटके संधिवर्णनम्

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः ।
पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च संधयः ॥२०॥
अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ।
मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ॥२१॥
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः ....

१०—नाटक में संधियां

आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की पांच अवस्थाओं के संबन्ध से नाटक के इतिवृत्त के जो पांच भाग होते हैं उन्हें ही क्रमशः 'पांच संधियां' कहा करते हैं। 'सन्धि' एक उद्देश्य से संमन्वित नाटकीय विषयों के पारस्परिक अवान्तर संबन्ध को कहते हैं। इसके पांच भेद होते हैं—१ मुख, २ प्रतिमुख, ३ गर्भ, ४ विमर्श और ५ उपसंहृति अथवा निर्वहण।

११—नाट्योक्तिनिरूपणम्।

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ॥
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम् ।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥२२॥
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥२३॥
किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥२४॥

११—नाट्योक्तियाँ

नाट्य में 'स्वगतम्' का अर्थ ऐसी बात होती है जो कि दूसरे को सुनाने योग्य नहीं होती। 'प्रकाशम्' का अर्थ ऐसी बात है जो कि सभी को सुनने योग्य हो। किसी एक पात्र से छिपा कर, दूसरे पात्र की ओर मुड़ कर, कही गयी बात को 'अपवारितम्' कहते हैं। कथानक के बीच में, 'त्रिपताक' नामक हाथ की मुद्रा से, दूसरों को मानो न सुनाना चाहते हुये, दो पात्रों का परस्पर वार्तालाप 'जनान्तिकम्' कहा जाता है। विना किसी दूसरे पात्र के, विना किसी बात के कहे भी मानो उसे सुनते हुये से 'क्या कहा' ऐसा कह कर, किसी पात्र का जो कथनोपकथन होता है वह 'आकाशभाषित' कहलाता है।

१२—श्रव्यकाव्यवर्णनम

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ।।

१२—'श्रव्य' काव्य का निरूपण

'श्रव्य' वह काव्य है जो केवल सुना जाया करता है (न कि अभिनय द्वारा दिखाया जाया करता है)। यह दो प्रकार का होता है— १ला पद्य काव्य और २रा गद्य काव्य।

१३—पद्यमयश्रव्यकाव्यभेदनिरूपणम

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते ।।२५।।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।

१३—पद्यमय श्रव्यकाव्य और उसके प्रकार

'पद्यात्मक' श्रव्य काव्य वह है जो कि छन्दोबद्ध हुआ करता है। इसके

2. तदुक्तम् - द्वाभ्यां युग्मकमिति ज्ञेयं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥

भेदों में 'मुक्तक' उसे कहते हैं जो कि 'मुक्त' अर्थात् 'स्वतन्त्र' अथवा अन्य पद्यों की अपेक्षा से शून्य होता है। 'युग्मक' वह पद्य काव्य है जो दो छन्दों में रचा हुआ होता है। तीन छन्दों में बनाये गये पद्यकाव्य को 'संदानितक' कहते हैं। 'कलापक' नाम का पद्यकाव्य वह है जिसकी रचना चार छन्दों में होती है और 'कुलक' उसे कहते हैं जो कि पांच (या पांच से अधिक) छन्दों द्वारा बना होता है।

१४—महाकाव्यम्

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥२६॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
श्रृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥२७॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥२८॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥२९॥

यथा—रघुवंशशिशुपालवधनैषधादयः।

१४—'महाकाव्य' क्या है

वह काव्य जो कि सर्गों में रचा हुआ होता है 'महाकाव्य' कहलाता है। 'महाकाव्य' के लिये यह आवश्यक है कि उसमें एक ही नायक हो जो कि धीरता और उदात्तता के गुणों से विशिष्ट हो और जो या तो देव विशेष हो या उच्चवंश का क्षत्रिय हो। इसमें श्रृंगार, वीर और शान्त रसों में से

कोई एक ही रस अङ्गी अथवा प्रधान रूप से और अन्य रस अङ्ग अथवा अप्रधान रूप से रहा करते हैं। इसमें सभी नाटक-संधियां रहा करती हैं। इसका कथानक ऐतिहासिक होता है या किसी प्रसिद्ध महापुरुष के जीवन से संबद्ध होता है। इसमें धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष—इस पुरुषार्थचतुष्टय में से कोई एक अन्तिम फल के रूप में रहा करता है। इसके सर्ग ऐसे होते हैं जिनमें प्रत्येक में कोई एक वृत्त प्रयुक्त होता है और अन्त में दूसरा वृत्त रहता है। इसमें, न बहुत छोटे और न बहुत बड़े, आठ से अधिक सर्ग हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये—रघुवंश, शिशुपालवध, नैषधीयचरित आदि महाकाव्य।

१५—खण्डकाव्यम

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

यथा—मेघदूतादिः।

१५—खण्डकाव्य का लक्षण

'खण्डकाव्य' वह है जो कि काव्य के एक अंश का अनुसरण किया करता है। जैसे कि 'मेघदूत' आदि।

१६—गद्यवर्णनम

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्॥३०॥
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्।

१६—गद्य क्या है ?

'गद्य' वह है जो की वृत्तरचना के नियमों में नहीं बंधा होता। इसके चार भेद होते हैं—१ला-मुक्तक, २रा—वृत्तगन्धि, ३रा—उत्कालिकाप्राय और ४था—चूर्णक। इसमें पहला (मुक्तक) वह है जिसमें समस्त पद नहीं रहा करते दूसरा (वृत्तगन्धि) वह, जिसमें वृत्तों के टुकड़े मिला करते हैं, तीसरा (उत्कलिकाप्राय) वह, जिसमें लम्बे लम्बे समस्त पद रहा करते हैं और चौथा (चूर्णक) वह, जिसमें छोटे छोटे समस्त पद प्रयुक्त हुआ करते हें।

१७—गद्यकाव्यभेदेषु कथावर्णनम

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥३१॥

क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके।

आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥३२॥

यथा—कादम्बर्यादिः।

१७—गद्यकाव्य के प्रभेदः 'कथा'

'कथा' वह गद्यकाव्य है जिसकी सरस वस्तु-रचना गद्य में की जाया करती है। इसमें कहीं कहीं 'आर्या' छन्द और कहीं कहीं 'वक्त्र' अथवा 'अपवक्त्र' छन्द भी प्रयुक्त होते हैं। इसके आरम्भ में पद्य द्वारा ईश्वर अथवा देव विशेष की स्तुति हुआ करती है और साथ ही साथ असाधु तथा साधु जन के स्वभाव का भी वर्णन रहा करता है।

उदाहरण के लिये—'कादम्बरी' आदि।

१८—तत्राख्यायिकावर्णनम्

आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम् ।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥३३॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते ।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥३४॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

यथा—हर्षचरितादिः ।

१८—गद्यकाव्यः आख्यायिका

'आख्ययिका' भी कथा की भाँति ही गद्यकाव्य है। इसमें कवि के वंश का अनुकीर्तन रहा करता है। जहाँ-तहाँ, इसमें अन्य कवियों के भी वृत्तान्त रहा करते हैं और पद्य भी पाये जाया करते हैं। इसके कथा-भागों को 'आश्वास' कहा करते हैं। इन आश्वासों के आरम्भ में, इनमें आने वाली कथा की सूक्ष्म सूचना दी जाया करती है जिसके लिये आर्या, वक्त्र, अपवक्त्र अथवा और कोई भी छन्द प्रयुक्त हो सकता है।

उदाहरण के लिये—'हर्षचरित' आदि।

१९—गद्यपद्योभयात्मकं काव्यम्

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥३५॥

यथा—देशराजचरितम् ।

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे दृश्यश्रव्यकाव्यनिरूपणो नाम षष्ठः परिच्छेदः ।

१९—गद्यपद्यात्मक काव्य: चम्पू

'चम्पू' नामक एक और काव्य प्रकार है जिसकी रचना गद्य और पद्य—दोनों में हुआ करती है।

जैसे कि—'देशराजचरित'।

साहित्यदर्पणसारसंग्रह : दृश्यश्रव्यकाव्यनिरूपण नामक छठा परिच्छेद समाप्त।

उत्तरभागः

1. The following पद and पदांशदोषs are discussed:
(i) दुःश्रवत्व (पद में)
(ii) अप्रयुक्तत्व
(iii) निहतार्थत्व
(iv) श्रुतिकटुत्व (पदांश में)

(सप्तमः परिच्छेदः)

(सातवां परिच्छेद)

१—दोषवर्णनम्

इह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः। सम्प्रति के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणां स्वरूपमाह—

रसापकर्षका दोषाः ते पुनः पञ्चधा मताः।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि च ॥१॥

१– दोषों का वर्णन

सबसे पहिले (प्रथम परिच्छेद में) यह दिखाया जा चुका है कि 'काव्य' में दोष, गुण, रीति और अलङ्कार की अवस्थिति कैसी है। अब ये दोष, गुण, रीति और अलंङ्कार क्या हैं? यह बताना अपेक्षित है और इसलिये, इनके उल्लेख के क्रम का अनुसरण करते हुये, दोषों के स्वरूप का वणन किया जा रहा है—

'दोष' वे हैं जो रस को अपकृष्ट अर्थात् विच्छिन्न अथवा अरोचक बनाया करते हैं। ये पांच प्रकार के हैं क्योंकि ये १. पद, २. पदांश, ३. वाक्य, ४. अर्थ और ५. रस में पाये जाया करते हैं।

२—कतिपये पद-पदांश दोषाः

1. परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम्। यथा—

'कार्त्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी
कदाऽनङ्गवशंवदा ।,

अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् । यथा—

'भाति पद्मः सरोवरे ।'

क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । यथा—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः ।'

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसतिः पद्मं तस्य जन्मभुवो जलानि ।

विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वमविमृष्टविधेयांशत्वम् । यथा—

'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।'

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावादनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

यथा वा—

'आसमुद्रक्षितीशानाम्'

अत्राऽऽसमुद्रमिति वाच्यम् ।

पदांशे श्रुतिकटुत्वं यथा—

'तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यम्' ।

एवमन्येऽपि यथासंभवं पदांशदोषा ज्ञेयाः ।

२—कतिपय पद-पदांशगतदोष

'दुःश्रवत्व' (अथवा 'श्रुतिकटुत्व') वह दोष है जिसे, वर्णों के परुष अथवा कठोर होने के कारण, किसी पद का कर्णकटु होना कहा जाता है । उदाहरण के लिये—

'अनङ्गवशंवदा' अर्थात् प्रेम के वशीभूत, यह तन्वङ्गी (सुन्दरी) कब 'कार्तार्थ्य' अथवा कृतार्थता प्राप्त करेगी (अपना मनोरथ सफल करेगी)। यहां 'कार्तार्थ्य' पद में 'दुःश्रवत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां जो वर्णध्वनियां सुनाई दे रही हैं वे कानों को कष्ट पहुंचा रही हैं।

'अप्रयुक्तत्व' वह दोष है जिसे किसी पद का, चाहे वह कोशादि में उस रूप में प्रसिद्ध हो, कवियों द्वारा अनादृत होना कहा जाता है। उदाहरण के लिये—

'सरोवर में पद्म (पद्मः) शोभित हो रहा है।' यहां 'पद्मः' इस पद में 'अप्रयुक्तत्व' दोष है क्योंकि कोश में भले ही यह पद पुल्लिङ्ग में भी प्रसिद्ध हो (वा पुंसि पद्मं नलिनम्) किन्तु कवि-सम्प्रदाय में यह नपुंसक-लिङ्ग में ही अधिकतर प्रयुक्त हुआ है।

'क्लिष्टत्व' वह दोष है जिसे अर्थ की प्रतीति में व्यवधान अथवा रुकावट पड़ना कहा जाता है। जैसे कि—

'क्षीरोदजा अर्थात् लक्ष्मी की वासभूमि (कमल) के जन्मस्थान (जल) स्वच्छ हैं।'

यहां 'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः' इस पद में क्लिष्टत्व है क्योंकि 'जल स्वच्छ है' इस अर्थ की प्रतीति में यहां रुकावट पड़ रही है। 'क्षीरोदजा' से लक्ष्मी और उसकी 'वसति' (निवासभूमि) से कमल और उसके जन्मस्थान से जल के अर्थ तक पहुंचने में जो बाधायें हैं, वे स्पष्ट हैं।

'अविमृष्टविधेयांशत्व' (अथवा विधेयाविमर्श) वह दोष है जिसे विधेय (प्रधान) अंश का विमर्श न करके उसे अप्रधान अथवा गौण रूप से उपस्थित करना कहा जाया करता है। जैसे कि—

'स्वर्गरूपी क्षुद्र गांव के लूट-पाट से व्यर्थ ही फूले हुये इन हाथों से क्या।' यहां विधेय अंश 'वृथात्व' (व्यर्थ होना) है किन्तु इसे (तत्पुरुष) समास में अन्तभूत कर दिया गया है जिससे यह गौण अथवा अप्रधान हो गया है (तत्पुरुष समास में उत्तर पद का अभिप्राय प्रधान हुआ करता है, पूर्व पद का नहीं)।

अथवा जैसे कि—

'समुद्रपर्यन्त पृथिवी के स्वामिओं का'

यहां (कालिदास के रघुवंश की इस उक्ति में) विधेय अंश है- 'आ-समुद्रम्' अर्थात् 'समुद्रतक' जिसे इसी असमस्त रूप में रखना उचित था। किन्तु इसे समस्त करके गौण अथवा अप्रधान बना दिया गया है।

पदांश में भी 'दु:श्रवत्व' अथवा 'श्रुतिकटुत्व' दोष दिखायी देता है।

जैसे कि —

'तद्गच्छ सिद्धयै, कुरु देवकार्यम्' (सिद्धयर्थ जाओ और देवताओं का कार्य सम्पन्न करो)। यहां 'सिद्धयै' इस पद के 'द्धयै' अंश में, परुषवर्णों के कारण, श्रुतिकटुत्व स्पष्ट है।

अन्य भी पदांशगत दोष, इसी भांति, यथा संभव जाने जा सकते हैं।

३—कतिपये वाक्यदोषाः

हतवृत्तं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यं, रसाननुगुणमप्राप्तगुरुभावान्तलघु च। क्रमेण यथा —

'हन्त सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः।'

'अयि मयि मानिनि मा कुरु मानम्।'

इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवानुकूलम्।

'विकसितसहकारभारहारिपरिमल एष समागतो वसन्तः।'

अत्र 'प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः,' इति पाठो युक्तः।

अक्रमता यथा —

'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।

शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमम् रमणीयताम् ॥

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेति शब्दोपयोगो युज्यते, न तु 'प्रणिगदन्त' इत्यनन्तरम् ।

भग्नप्रक्रमता यथा —

'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत ।'

अत्र वच्धातुना प्रकान्तं प्रतिवचनमपि तेनव वक्तुमुचितम् । तेन 'रावणः प्रत्यवोचत' इति पाठो युक्तः ।

प्रसिद्धित्यागो यथा —

'घोरो वारिमुचां रवः ।'

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम् ।

३—कतिपय वाक्यगत दोष

'हृतवृत्तत्व' अथवा 'हृतवृत्तता' वह दोष है जिसे लक्षण के अनुसार किसी छन्द के ठीक होने पर भी सुनने में उसका ठीक न लगना, अथवा उसका रस के अनुकूल न होना और उसके अन्त में गुरुत्व न प्राप्त करा सकने वाले लघ्वक्षर का होना कहा जाया करता है ।

जैसे किं क्रमश :—

'बड़े दुःख की बात है कि कामदेव क्रुद्ध हो कर सदा इस सुन्दरी का हृदय बींधा करता है ।'

(यहां 'हृतवृत्तत्व' दोष है क्योंकि यहां 'आर्या' वृत्त, छन्दः शास्त्र के

'आर्या' लक्षण के अनुसार तो ठीक है किन्तु सुनने में ठीक नहीं लगता क्योंकि 'हन्त सततमेतस्याः' यह पहला चरण 'अनुष्टुप्' सा सुन पड़ता है ।)

'अरी मानिनि ! मेरे ऊपर मान न करो ।' यहां जो वृत्त है वह हास्य रस के अनुकूल है (किन्तु यहां रस 'हास्य' नहीं अपितु 'शृङ्गार' है) ।

'मञ्जरियों से भरे आम्र-वृक्षों की मनोहर सुगन्ध वाला वसन्त आ पहुचा ।'

यहां 'विकसितसहकारभारहारिपरिमल' इत्यादि में 'हृतवृत्तत्व' है क्योंकि प्रथम चरण के अन्त में 'हारि' का लघ्वक्षर 'इकार' गुर्वक्षर के रूप में नहीं सुन पड़ता । यहां 'विकसितसहकारभारहारिप्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः' ऐसा पाठ ठीक है क्योंकि तब 'हारि' का लघ्वक्षर 'इकार' गुरुत्व को प्राप्त कर लेता है ।

'अक्रमत्व' दोष, जैसे कि —

'समय ही किसी को सबल और किसी को दुर्बल बनाता है' यह बताते हुए, शरद् ऋतु में, मयूरों की केकाध्वनि को कर्कश बनाने वाले हंसो के कूजन मनोरम लगने लगे ।

यहां 'अक्रमत्व' है क्योंकि 'समय एव करोति बलाबलम्' यह वाक्यार्थ ही 'इति' शब्द के द्वारा परामर्श—योग्य है और इसी के बाद 'इति' शब्द का प्रयोग उचित है न कि 'प्रणिगदन्तः' (बताते हुए) के बाद ।

'भग्नप्रक्रमत्व' दोष जैसे कि —

'मन्त्रिप्रवरों के द्वारा ऐसा कहे जाने पर रावण ने प्रतिभाषण किया ।'

यहां 'भग्नप्रक्रमत्व' अथवा 'प्रक्रमभंग' है क्योंकि आरम्भ में 'वच्' धातु का ही प्रयोग होना उचित है, 'भाष्' धातु का नहीं । इस लिए 'रावणः प्रत्यब्रोचत' ऐसा प्रयोग ही यहां ठीक है ।

'प्रसिद्धित्याग' जैसे कि —

'मेघों का रव भयङ्कर है ।'

यहां 'प्रसिद्धित्याग' स्पष्ट है क्योंकि कवि-सम्प्रदाय में, मेघों का 'गर्जन' ही प्रसिद्ध है, 'रव' नहीं (रव तो मेढक आदि के शब्द के लिए प्रसिद्ध है) ।

* अधिकपदत्वे पदार्थान्वयप्रतीतेः समकालमेव बाधप्रतिभासः, इह तु पश्चादिति विशेषः । सा. द.

1. अपुष्टत्वं च विवक्षितार्थबाधप्रयोजकानुपादानकत्वम् । तद्विरहश्च द्विधा अप्रयोजकत्वात् प्रयोजकत्वेऽ(पृ-४९) -लभ्यत्वाच्च ।

४—कतिपये अर्थदोषाः

अपुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम् । यथा—

'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये ।'

अत्र 'विततशब्दो' मानत्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुरुते ।* दुष्क्रमता यथा—

देहि मे वाजिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसम् ।'

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम् ।

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।'

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

४—कतिपय अर्थगत दोष

'अपुष्टत्व' अर्थदोष वह है जिसे, किसी पदार्थ का, मुख्य अर्थ के प्रति अनुपकारक होना कहा करते हैं । जैसे —

'प्रिये ! वितत व्योम (विस्तीर्ण गगन) में चन्द्रमा को देख कर मान करना छोड़ ।,

यहां 'अपुष्टत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां 'मानत्याग' (मान छोड़ने) के मुख्यार्थ में 'वितत' (विस्तीर्ण) पद का अर्थ उपकारक नहीं प्रतीत होता ।

'दुष्क्रमत्व' जैसे कि —

राजन् ! मुझे या तो घोड़ा दीजिये या ऐसा हाथी जो मतवाला हो ।,

यहां 'दुष्क्रमत्व अर्थ दोष है क्योंकि पहले हाथी का मांगना उचित है जिसे न मिल सकने पर, घोड़े की मांग पूरी हो सकती है ।

'प्रसिद्धि-विरुद्धता' जैसे कि —

'इस के बाद, संग्राम में, तीक्ष्णशूल धारण किये विष्णु विचरण करने लगे ।'

'यहां प्रसिद्धि-विरोध' रूप अर्थ दोष है क्योंकि लोक में, विष्णु के लिए, 'शूल' का धारण करना अप्रसिद्ध है (शूल धारण तो महादेव शङ्कर के लिए ही प्रसिद्ध है ।)

५—कतिपये रसदोषाः

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ।।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः
अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ।। २ ।।

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च । क्रमेण यथा-

तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।
चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।

स्थायिभावस्य स्वब्शदवाच्यत्वं यथा—

अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।

अकाण्डे प्रथनं यथा -- वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवीरसंक्षयेऽकाले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम् । छेदो यथा वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्ययोन्संरम्भे कङ्कणमोचनाय गच्छामीति राघवस्योक्तिः

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा—कुमारसंभवे रतिविलापे ।

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा—रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा—कर्पूरमञ्जर्यां राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य वर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य प्रशंसनम् ।

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेद :

(कुछ रसगत दोष)

रस का 'स्वशब्द' अर्थात् वाचक पद के द्वारा अभिधान, स्थायी किंवा व्यभिचारी भावों का 'स्वशब्द' अर्थात् उनके वाचक पदों द्वारा कथन,

अनवसर में रस का प्रथन अथवा विस्तार, अनवसर में रस का विच्छेद अथवा ह्रास, रस को पुनः पुनः दीप्त करना, प्रधान रस का विस्मरण, रस के जो अङ्ग न हों उनका वर्णन—ये कतिपय रसगत दोष हैं।

यहां रस के 'स्वशब्द' का अर्थ है–'रस' शब्द अथवा शृँगार आदि शब्द। जैसे कि क्रमशः—

'उस हरिणाक्षी को देख कर हमारे मन में एक अनिर्वचनीय रस उत्पन्न हो गया।'

'चन्द्रमण्डल को देखकर हृदय शृंगार में डूबने लगा।,

(यहां 'रस' इस सामान्य शब्द और 'शृँगार'- इस विशेष शब्द के प्रयोग में कोई आनन्द नहीं मिलता।)

स्थायी भाव का 'स्वशब्द' अथवा उसके वाचक शब्द द्वारा कथन, जैसे कि—

'तुम्हें देखने पर, उसके हृदय में, तुम्हारे लिए 'रति' उत्पन्न हो आयी।'

(यहां शृँगार रस के स्थायी भाव रति का उसके वाचक शब्द द्वारा अभिधान खटक रहा है।)

अनवसर में रस का विस्तार, जैसे कि—

'वेणी संहार' नाटक के दूसरे अंक में, जहाँ कवि ने दुर्योधन और भानुमती के शृँगार का, उस समय विस्तार किया है जब कि अनेकों शूरवीरों का संहार हो रहा है।

अनवसर में रस का विच्छेद, जैसे कि—

'महावीर चरित' नाटक, में राम की, कङ्कणमोचन के लिए जाने की, उस समय की उक्ति, जब कि वे और परशुराम पूरे जोश में भरे हुये दिखाये जा रहे हैं।

रस की पुनः पुनः दीप्ति, जैसे कि 'कुमारसंभव' में रतिविलाप के प्रसंग में।

प्रधान रस का विस्मरण, जैसे कि 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में, (कञ्चुकी) बाभ्रव्य के आगमन—प्रसङ्ग में (नायिका) सागरिका को भूल जाना।

रस के अनुपकारक का वर्णन, जैसे कि 'कपरमञ्जरी' में राजा और नायिका, स्वकृत वसन्तवर्णन के बदले, चारण द्वारा किये गये वसन्तवर्णन की प्रशंसा करते दिखाये गये हैं।

साहित्यदर्पणसारसंग्रहः दोषनिरूपण नामक सातवां परिच्छेद समाप्त।

ओज A 1. मम्मट & आ. व. — ओज means 'दीप्ति' = आत्मविस्तार का हेतु
2. विश्वनाथ — चित्तविस्तार रूप ओज.

B 1. ध्वनिकार - रौद्र, वीर में प्रकर्ष तारतम्य
2. मम्मट - वीर, बीभत्स, रौद्र — क्रमशः प्रकर्षाधिक्य
3. विश्वनाथ — ~~Aggree~~ Agrees with मम्मट.

प्रसाद- Echoes मम्मट
" शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥ का.प्र. ८
1. क्रम 'समस्त रस साधारण धर्म' — जिससे कि उनउन रसों के आस्वाद में सामाजिक का हृदय 'प्रसन्न' और 'तन्मय'

General
1. माधुर्य और ओज का रहस्य सामाजिक की 'चित्तद्रुति' और 'चित्तदीप्ति' का रहस्य (शृंगार, वीर, करुण etc)
2. प्रसाद सभी रसों में हृदय के 'विकास' या 'तन्मयीभवन' से संबद्ध, जिसके बिना न तो द्रुति संभव है न दीप्ति.
3. पंडितराज entertains a totally different view:
(i) जब 'शृंगार' और 'वीर' ही 'द्रुति' और 'दीप्ति' के कारण, तो उनके कारणत्व में माधुर्य और ओज की अनावश्यकता.
"प्रातिस्विककरत्वेनैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्" — र. गं., १ आनन
(ii) शब्द और अर्थ में 'द्रुति' और 'दीप्ति' की मान्यता औपचारिक नहीं अपितु वास्तविक; otherwise how can the शब्दार्थ be cause of द्रुति and दीप्ति.
4. रसमात्र धर्म means, they are not words of शब्द + अर्थ; if they are only in the secondary sense.
5. Main problem — whether रसधर्म and then शब्दधर्म or first शब्दधर्म and then रसधर्म.
6. गुण केवल तीन — ३ वामन: दशगुण, भोज - २४ गुण; एतावन्मात्री करे बीजम — नव रसों में सामाजिकों की 3 तीन अवस्थाएं = द्रुति (शृंगार, करुण, शान्त), दीप्ति (वीर, रौद्र, बीभत्स), विस्तार (हास्य, अद्भुत, भयानक) | विकास कहीं द्रुति से युक्त, कहीं 'विस्तार' से | प्रसाद असंख्यात्य का नियामक |

अष्टमः परिच्छेदः

(आठवां परिच्छेद)

१—गुणनिरूपणम्

गुणानाह—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥ १ ॥

यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्दवाच्याः, तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः ।

१—गुणनिरूपण

गुणों का निरूपण किया जा रहा है—

जैसे शरीर में आत्मा ही प्रधान है और उसी के धर्म 'शौर्य' आदि 'गुण' कहे जाते हैं वैसे ही काव्य में रस ही अङ्गी अथवा प्रधान है और उसी के धर्म 'गुण' कहे जाते हैं । ये गुण तीन प्रकार के हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज और (३) प्रसाद ।

तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर में अङ्गी अथवा प्रधान रूप से विराजमान आत्मा का उत्कर्ष बढ़ाने वाले शौर्य आदि को 'गुण' कहा जाया करता है वैसे ही 'काव्य में अङ्गित्व अथवा प्रधानता को प्राप्त रस के धर्म, अथवा स्वरूप विशेष माधुर्य आदि को भी 'गुण' कहा करते हैं । रस के धर्मभूत में 'माधुर्य आदि

गुण ही, वस्तुतः अपने समर्पक अथवा व्यञ्जक पद संदर्भ को, 'काव्य' का नाम देने में समर्थ होते हैं ।

२—माधुर्यवर्णनम्

तत्र—

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।
संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥२ ॥

यथा—

'अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसंतापसन्ततिम्, ॥

यथा वा मम—

'लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥

२—'माधुर्य' गुण का वर्णन

इन गुणों में—

'माधुर्य' गुण एक ऐसा आह्लाद अथवा आनन्द है जिसका स्वभाव हृदय का पिघल उठना है । इसे क्रमशः संयोग श्रृंगार, करुण, विप्रलम्भश्रृंगार और शान्त रसों में उत्तरोत्तर बढ़ा हुआ पाया जाता है ।

जैसे कि—

'उस रमणी के अपाङ्गों की भङ्गियां (कटाक्षविक्षेप) अनङ्ग की मङ्गलमय

जन्मभूमि सी हैं और निरन्तर युवक प्रेमिओं के अन्तस्तल में संताप परम्परा उत्पन्न किया करती हैं।,

यहां 'ङ' और 'ग' (जैसा कि पहले दूसरे चरणों में स्पष्ट है) तथा 'न' और 'त' (जैसा कि तीसरे और चौथे चरणों में स्पस्ट है) के संयोग से माधुर्य का अभिव्यञ्जन हो रहा है। रचना में छोटे छोटे समास भी यहां 'माधुर्य' के व्यञ्जक हैं।

अथवा मेरी (विश्वनाथ कविराज की) यह रचना 'गुञ्जार करते मतवाले भौंरों से भरे लताकुञ्ज को चञ्चल बनाते; अङ्ग-अङ्ग का आलिङ्गन करते हुये अनङ्ग को सहसा बल देते ; मन्द-मन्द गति से, खिले कमल को कम्पित करते और फलों के पराग को धारण किये मलयानिल के भौंरे चारों दिशाओं में मकरन्द विखेर रहे हैं।,

यहाँ 'ञ' और 'ज' और 'ङ' तथा 'न' और 'द' के संयोग से 'माधुर्य' अभिव्यक्त हो रहा है। साथ ही साथ अल्प समासवती रचना इस 'माधुर्य' को और भी मधुर बना रही है।

३—ओजोवर्णनम्

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥३॥

यथा—

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात—
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

३—'ओज' का वर्णन

'ओजस्' (ओज) वह गुण है जिसे चित्त का जल उठना अथवा चित्त का विस्तार कहा करते हैं। इसका अधिकाधिक अनुभव क्रमशः वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में हुआ करता है।

जैसे कि—

'देवि ! फड़कती भुजाओं द्वारा घुमायी गयी भयङ्कर गदा की चोट से चूर्ण-विचूर्ण जंघाओं वाले दुर्योधन के घनीभूत पंकिल खून से लाल-लाल हाथ लिये यह भीम तेरे केशों को संवार देगा।'

यहाँ की कठोर वर्णध्वनियाँ और दीर्घसमास वाली रचना—दोनों के द्वारा ओज की अभिव्यञ्जना हो रही है।

४—प्रसादवर्णनम्

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्तं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥४॥

यथा—

'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप ! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।
वाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥'

४—प्रसाद का वर्णन

'प्रसाद' वह गुण है जो कि सूखे इंधन में आग की भाँति, चित्त में व्याप्त हो जाता है और जिसे सभी रसों और सभी रचनाओं का सामान्य गुण कहा जाता है।

उदाहरण के लिये—

'ओ मौक्तिक के हार ! एकबार ही सुई की नोक से छेदे जाने पर, तुम तो किसी प्रेमिका के उरोजों पर लोट-पोट करने लगते हो किन्तु मैं ऐसा अभागा हूं कि सैकड़ों बार काम के वाणों से मर्माहत होते हुये भी, स्वप्न में भी, उसे नहीं देख पाता ।

(यहाँ सुनने मात्र से ही अर्थबोध कराने वाले शब्दों के इस संदर्भ में 'प्रसाद' झलक रहा है । पढ़ने वाले का चित्त, ऐसी रचनाओं के संपर्क में स्वच्छता अथवा निर्मलता से भर उठता है ।)

५—एषां गुणानामुपचारतः शब्दगुणत्वम्

एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः ।
(शरीरस्य शौर्यादिगुणयोग इव इति शेषः ।।

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे गुणनिरूपणो नाम अष्टमः परिच्छेदः

५—गुण रस धर्म हैं, किन्तु उपचारतः शब्द धर्म भी

काव्यममज्ञ लोग माधुर्य आदि इन गुणों को, जो वस्तुतः रस के गुण अथवा धर्म हैं उपचार अथवा लक्षण का आश्रय लेकर, शब्द के भी गुण कहा करते हैं ।

यहाँ अभिप्राय यह है कि जैसे 'शौर्य' आदि वस्तुतः आत्मा के धर्म होने से आत्मगुण ही हैं किन्तु इन्हें शरीर का भी गुण माना जाता है, वैसे ही 'माधुर्य' आदि रस के धर्म रस के ही गुण हैं किन्तु इन्हें काव्य-शरीर रूप शब्द का भी गुण माना जाता है ।

साहित्यदर्पणसारसंग्रहः गुणनिरूपण नामक आठवां परिच्छेद समाप्त ।

नवमः परिच्छेदः

(नवां परिच्छेद)

१—रीतिनिरूपणम्

अथोद्देशक्रमप्राप्तमलङ्कारनिरूपणं बहुवक्तव्यत्वेनोल्लङ्घ्य रीतिमाह—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥१॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।

१—रीति-निरूपण

अब निर्देश-क्रम के अनुसार तो (जैसा कि 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः'– १ म परिच्छेद में स्पष्ट है) अलङ्कारों का निरूपण किया जाना चाहिये, किन्तु, इसे छोड़ कर, क्योंकि इस विषय में बहुत कुछ कहना है, 'रीति' का निरूपण पहले किया जा रहा है—

पद-रचना को 'रीति' कहते हैं। यह अङ्गरचना की भांति होती है। इससे रस-भाव का, जो कि काव्य का आत्मतत्व है, उपकार होता है। यह चार प्रकार की होती है—१. वैदर्भी, २. गौडी, ३. पाञ्चाली और ४. लाटी।

२—वैदर्भीरीतिवर्णनम्

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका ॥२॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।

यथा—

'अनङ्गमङ्गलभुवः' इत्यादि ।

२—'वैदर्भी' रीति का वर्णन ।

'वैदर्भी रीति' वह पद-रचना है जिसमें माधुर्य के अभिव्यञ्जक वर्णों के कारण लालित्य रहा करता है और जिसमें असमस्त पद या अल्पसमास वाले पद प्रयुक्त हुआ करते हैं ।

जैसे कि—'अनङ्गमङ्गलभुवः' आदि (आठवें उल्लास में उद्धृत) सूक्ति ।

३—गौडीरीतिवर्णनम्

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥३॥
समासबहुला गौडी—

यथा—'चञ्चद्भुज'—इत्यादि ।

३—'गौडीरीति का वर्णन ।

'गौडीरीति' वह पद-रचना है जो कि ओज के अभिव्यञ्जक वर्णों के कारण उद्भट लगा करती है और जिसमें समस्त पदावली का प्रचुर प्रयोग हुआ करता है ।

जैसे कि—'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि (८वें परिच्छेद में उद्धृत) सूक्ति ।

४—पाञ्चालीरीतिवर्णनम् ।

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥४॥

द्वयोर्वैदर्भीगौड्योः ।

यथा—

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥'

४—'पाञ्चाली' रीति का वर्णन

'पाञ्चाली रीति' वह पद-रचना है जिसमें वैदर्भी और गौडी के उपर्युक्त वर्णों को छोड़कर अन्य वर्णों का गंफन रहा करता है । और जिसमें पांच या छः पदों के समास प्रयुक्त होते हैं ।

जैसे कि—

स्वभावतः मधुर ध्वनि वाली तथा मधु ऋतु में खिली माधवी लता की मधु समृद्धि से और भी अधिक मधुर स्वर वाली, निरन्तर उन्मादक संगीत से भरी भ्रमरी ने मीठी-मीठी गुञ्जार छेड़ दी ।

यहां प्रसाद पूर्ण वर्णो के सन्दर्भ में 'पाञ्चाली रीति' का रूप झलक रहा है ।

५—लाटीरीतिवर्णनम्

(लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।)

यथा—

'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि ॥'

५—'लाटी' रीति का वर्णन

'लाटी रीति' वह पद-रचना है जिसे 'वैदर्भी' और 'पाञ्चाली' रीतिओं के बीच की पद-रचना कहा करते हैं।

जैसे कि—

'पद्मवन का विकासक' उदयाचल के बन का नया-नया खिलने वाला मन्दार का फूल, विरही चक्रवाक-युगल का परम मित्र तथा कोपाकुल कपि के कपोल की भांति लाल-लाल यह सूर्य, अन्धकार को छिन्न-भिन्न करते, उदित हो रहा है।'

६—संक्षेपतःरीतिचतुष्टयस्य स्वरूपवर्णनम्

अन्ये त्वाहुः—

'गौडीडम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा।
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः॥

इति साहित्यदर्पणसारसंग्रहे रीतिनिरूपणों नाम नवमः परिच्छेदः।

६—संक्षेप में चारों रीतियों के स्वरूप का निरूपण

दूसरे काव्याचार्य इन चारों रीतिओं के सम्बन्ध में ऐसा कहते हैं—

'वैदर्भी' रीति ललित अथवा 'मधुरबन्ध' को कहते हैं, गौडी रीति 'उद्धत बन्ध' का नाम है, पाञ्चाली रीति 'मिश्रबन्ध' का अभिप्राय रखती है और लाटी रीति का अर्थ 'मृदुबन्ध' है।

साहित्यदर्पणसारसंग्रहः रीतिनिरूपण नामक नवां परिच्छेद समाप्त।

दशमः परिच्छेद

(दसवां परिच्छेद)

१—अलङ्कारस्वरूपविचारः

अथावसरप्राप्तानङ्कारनाह—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्ते ऽङ्गदादिवत् ॥१॥

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति तथाऽनुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः । अलङ्कारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितः ।

१—'अलङ्कार' क्या है ?

अब (गुण और रीति के निरूपण के बाद) अलङ्कारों के निरूपण का अवसर है इसलिए उनका निरूपण कर रहे हैं–(काव्य में) 'अलङ्कार' वे हैं जो कि शरीर के शोभा वर्धक अंगद (बाजू बन्द) आदि की भाँति, शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले, रस,भाव के सहायक, शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हुआ करते हैं ।

अभिप्राय यह है कि जैसे बाजू बन्द आदि शरीर की शोभा बढ़ाते हुए, शरीर में रहने वाले व्यक्तित्व की भी शोभावृद्धि में सहायक होते हैं वैसे ही अनुप्रास-उपमा आदि शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हुये, रसभाव का

भी उपकार करते हैं। 'अलङ्कार' अस्थिर धर्म है—इसका यह तात्पर्य है कि (गुण) की भाँति काव्य में इनकी अनिवार्य स्थित अपेक्षित नहीं रहती।

२—शब्दालङ्कारेष्वनुप्रासमाह

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्। रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः।

२—शब्दालङ्कार : अनुप्रास

'अनुप्रास' वह अलङ्कार है जिसे स्वर के साम्य के न होने पर भी (व्यञ्जन का सादृश्य) कहा करते हैं।

केवल स्वर का भी सादृश्य हो सकता है किन्तु इसमें कोई चमत्कार नहीं हुआ करता। इसीलिये स्वर-सादृश्य की यहाँ कोई गिनती नहीं। रस-भाव की अनुकूलता अथवा अनुरूपता की दृष्टि से, व्यञ्जनों का एक प्रकृष्ट न्यास वस्तुतः 'अनुप्रास' अलङ्कार है।

३—अनुप्रासभेदेषु छेकानुप्रासः—

छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥२॥

छेकश्छेकानुप्रासः। अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च। रसः सरः इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालङ्कारस्य विषयः। उदाहरणम्—

'आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान्।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥'

अत्र गन्धानन्धीतिसंयुक्तयोः ,कावेरीवारीत्यसंयुक्तयोः, पावनः पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः। छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादे छेकानुप्रसः।

३—अनुप्रास-भेद—छेकानुप्रासः

'छेकानुप्रास' वह अनुप्रास है जिसमें व्यञ्जनों का, अनेक प्रकार से, एक बार सादृश्य रहा करता है।

यहाँ (कारिका में) 'छेकः' का अर्थ 'छेकानुप्रास' है। 'अनेकधा' अर्थात् 'अनेक प्रकार से' का अभिप्राय, व्यञ्जन के साम्य का स्वरूप और क्रम—दोनों तरह से होने का है। इसीलिये, 'रसः' और 'सरः इत्यादि में, यह अलङ्कार नहीं रहता क्योंकि यहाँ 'र' और 'स' में सादृश्य होने पर भी इनका क्रम बिगड़ा हुआ है।

उदाहरण—

'कावेरी के पानी के कणों से भीगी, मौलसिरी की सुगन्ध से सनी और पग-पग पर भौंरों को मतवाला बनाती यह मन्द-मन्द समीर चली आ रही है।

यहाँ 'गन्धानन्धी' में संयुक्त 'न' और 'ध' व्यञ्जनों की, 'कावेरीवारि' में असंयुक्त 'व' और 'र' व्यञ्जनों की और 'पावनः पवनः' में 'प', 'व', तथा 'न' इन तीन-तीन व्यंजनों की एकबार आवर्ति दिखायी दे रही है। यह 'छेकानुप्रास' है। 'छेक' का अर्थ 'विदग्ध' अथवा चतुर कवि का अर्थ है। ऐसे कविजन के द्वारा ऐसे 'अनुप्रास' का व्यवहार होता है और इसीलिये इस अनुप्रास को 'छेकानुप्रास' कहा कहते हैं।

४—तत्र वृत्त्यनुप्रासः

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥३॥

एकधा स्वरूपत एव न तु क्रमतोऽपि। अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च। सकृदपीत्यपि शब्दादसकृदपि। उदाहरणम्—

'उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताकुंर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः॥

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेणापि। द्वितीये पादे, कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण। प्रथमे एकस्य मकारस्य सकृत्, धकारस्य चासकृत्। रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसानाद्वृत्त्यनुप्रासः।

४—अनुप्रासभेदःवृत्यनुप्रास।

'वृत्यनुप्रास' वह अनुप्रास है जिसमें अनेक व्यञ्जनों का एक प्रकार से (केवल स्वरूपतः न कि क्रमतः) साम्य, अथवा अनेक व्यञ्जनों का अनेक बार, अनेक प्रकार से (स्वरूपतः तथा क्रमतः) साम्य अथवा एक व्यञ्जन का एक बार या अनेकबार साम्य रहा करता है।

यहां 'एकधा' (एक प्रकार से) का अर्थ केवल स्वरूप से न कि क्रम से भी व्यञ्जनों की समानता का अथ है। 'अनेकधा' (अनेक प्रकार से) का अभिप्राय स्वरूप और क्रम—दोनों प्रकारों से व्यञ्जन—साम्य का अभिप्राय है। 'सकृदपि' में अपि (भी) कहने से यह तात्पर्य समझना चाहिये कि 'अनेक बार भी' व्यञ्जनों के साम्य होने से 'वृत्यनुप्रास' अलंकार होता है।

उदाहरण—

बाहर निकली सुगन्ध से लुभाये हुये मधुकरों से कम्पित आम्र-मञ्जरिओं

पर क्रीडा करने में लगी कोयलों की कक सुन २ कर जिनके कान पक गये हैं ऐसे विरही जन अपनी प्रेमिकाओं की स्मृति में ही उनके मिलन के सुख का आनन्द मनाते हुये, बड़े दुःख से, वसना के इन दिनों को, किसी प्रकार काट रहे हैं।

यहाँ 'रसोल्लासैरमी' में 'र' और 'स' व्यञ्जनों की, एक प्रकार से ही अर्थात् स्वरूप से ही, न कि क्रम से भी समानता है। दूसरे चरण में, 'क' और 'ल' व्यञ्जनों की, अनेक बार, उसी क्रम से समानता है। पहले चरण में 'म' व्यञ्जन की एक बार और 'ध' व्यञ्जन की अनेक बार समानता है। इसलिये यह 'वृत्यनुप्रास' है। 'वत्ति' ऐसी-वण-रचना को कहते हैं जिसमें रसभाव को अभिव्यक्त करने की शक्ति हुआ करती है। ऐसी वत्ति से अनुगत, व्यञ्जनों का प्रकृष्ट न्यास ही 'वृत्यनुप्रास' अलङ्कार कहा जाता है।

५—यमकमाह—

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥४॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्। क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम्, अत उक्तम् 'सत्यर्थे,' इति। 'तेनैव क्रमेण' इति दमो मद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम। एतच्च प्रभूततमभेदम्। दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

नवपलाशपलाशवनं पुरः
स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्
स सुरभिं सुरभि सुमनोभरैः॥'

अत्र पदावृत्तिः। 'पलाश पलाश' इति, 'सुरभिं सुरभिं' इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम्। 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम्, 'पराग पराग' इत्यत्र द्वितीयस्य।

५—यमक

'यमक' वह शब्दालङ्कार है जिसे, स्वर-व्यञ्जन समुदाय का, जो यदि अर्थ रखता हो तो अलग-अलग अर्थ रखे, एक ही क्रम से, आवर्तन (दुहराना) कहा करते हैं।

'यमक' में, कहीं, दोनों पद सार्थक होते हैं और कहीं दोनों निरर्थक होते हैं, कहीं एक पद सार्थक होता है और दूसरा निरर्थक रहता है -- यह सब सोच कर, यहां, 'सत्यर्थे' (यदि सार्थक हो) यह कहा गया है। 'तेनैव क्रमेण' (उसी क्रम से) — यह इस लिए कहा गया है जिसमें 'दमो मदः' जैसी बिगड़े क्रम वाली स्वर व्यञ्जन समूह की आवृत्ति को 'यमक' न माना जाय। यमक के अनेकों प्रकार होते हैं। यहां दिग्दर्शन मात्र के लिए उदाहरण दे रहे हैं।

'श्री कृष्ण ने 'रैवतक' पर्वत पर जोकि 'नव पलाश' = नये-नये पत्तों वाले, 'पलाश वन' से भरा था, सुमनोभरैः सुरभिं = फलों की बाढ़ से सुगन्धित, सुरभिं = वसन्त ऋतु को देखा। जिसमें कमल 'स्फुटपराग'=बहुत अधिक पराग से 'परागत'=व्याप्त थे और जिस में 'लतान्त'=लताओं के अगले भाग 'मृदुलतान्त' अर्थात् मृदुल=मनोहर और 'तान्त'=लम्बे-लम्बे झुके थे।

यहां 'पदावृत्ति' यमक है। यहां 'पलाश-पलाश' और 'सुरभिं सुरभिं' में, दोनों पद, जिनकी आवृत्ति है, सार्थक हैं। 'लतान्त-लतान्त' में पहला 'लतान्त' पद निरर्थक है (क्योंकि इसका पहला अक्षर 'ल' मृदुल पद का अक्षर

है) । पराग-पराग' में दूसरा 'पराग' पद निरर्थक है (क्योंकि इसका अगला अक्षर 'त' है) ।

६—श्लेषमाह—

शिलष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥५॥
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

दिङ्मात्र मुदाह्रियते—

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ
विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभू —
न्न पतिष्यतः करसहस्रमपि

अत्र 'वक्ष्यती'ति विधु-विधि-शब्दयोरुकारेकारयोरौकार-रूपत्वाच्छ्लेषः ।

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥'

अत्र 'वक्ष्यती'ति वहि-वच्योः, 'सामर्थ्यकृद्' इति कृन्तति-करोत्योः प्रकृत्योः ।

६—श्लेष

'श्लेष' वह अलङ्कार है जिस में शिलष्ट पद के द्वारा अनेक अर्थ का

प्रतिपादन हुआ करता है। 'वर्ण' 'प्रत्यय', 'लिङ्ग', 'प्रकृति', 'पद', 'विभक्ति' 'वचन', और 'भाषा'—इनके श्लिष्ट होने के कारण, इसके आठ प्रकार होते हैं।

(दिग्दर्शन के लिये उदाहरण–)

विधौ = भाग्य के अथवा चन्द्रमा के 'प्रतिकूलतामुपगते' = प्रतिकूल हो जाने पर, बहुसाधनता विफलत्वमेति = सभी साधन निष्फल हो जाते हैं। तभी तो, पतिष्यतः दिनभतः करसहस्रमपि = अस्त होते अथवा नीचे गिरते सूर्य के, कर सहस्र = हज़ारों किरण अथवा हज़ारों हाथ भी, अवलम्बनाय न अभूत् = उसे सहारा देने में असमर्थ रहा करते हैं।'

यहां 'विधौ' इस पद में वर्ण-श्लेष है क्योंकि (सप्तमी विभक्ति के एक वचन में) 'विधि' और 'विधु' शब्द के 'इकार' और 'उकार' दोनों का 'औ' हो जाने से, एक रूप हो गया है।

इसी प्रकार—

'यह राजपुत्र सभी शास्त्रों को, हृदय में और विद्वानों के बीच, धारण करेगा तथा प्रतिपादन करेगा (वक्ष्यति = 'वह् प्रापणे' के लृट् लकार के एक वचन का रूप, जिस का अर्थ 'धारण करेगा' है तथा 'वच् परिभाषणे' के लृट्लकार के एक वचन का रूप, जिस का अर्थ 'प्रतिपादन करेगा' है। साथ ही साथ, यह अपने शत्रुओं और मित्रों का 'सामर्थ्यकृत्' (सामर्थ्यं कृन्ततीति सामर्थ्यकृत् = सामर्थ्य नष्ट करने वाला तथा सामर्थ्यं करोतीति सामर्थ्यकृत् = सामर्थ्य उत्पन्न करने वाला अर्थात्) शक्तिनाशक और शक्तिवर्द्धक भी होगा।'

यहां 'प्रकृतिश्लेष' है क्योंकि 'वक्ष्यति' में 'वह' (प्रापणार्थक)और 'वच्' (प्ररिभाषणार्थक) तथा 'सामर्थ्यकृत्' में 'कृती' (छेदनार्थक) और 'कृञ्' (उत्पादनार्थक) ये प्रकृतियाँ श्लिष्ट हैं।

७—अर्थालङ्कारषूपमातद्भेदनिरुपणम्।

अथावसरप्राप्तेष्वलङ्कारेषु प्राधान्यात् सादृश्यमूलेषु लक्षित-व्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्रथममुपमामाह। Alankaras are often classified as those based upon सादृश्य, विरोध, ...

अलंकारशिरोरत्नम् सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।
... राजशेखर ...
... अलं. स.

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः ।

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्

सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि । औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ।

इयं पुनः ॥६॥

'श्रौती यथेव वाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥७॥'

यथेववादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसंबन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे श्रौत्युपमा । एवं 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने । तुल्यादयस्तु–'कमलेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेय एव, 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादावुपमान एव, 'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादावुभयत्रापि विश्राम्यन्तीत्यर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे आर्थी । एवं 'तेन तुल्यम्' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

उदाहरणम्—

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले ॥

अत्र श्रौती (पूर्णोपमा) ।

मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ॥

अत्र आर्थी (पूर्णोपमा) ।

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ।
त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ॥

उदाहरणम् :—

मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पल्लवेन समः प्रिये ।
वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो मनोऽश्मवत् ॥

…कथिता रशनोपमा ।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥८॥

यथा—

चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो
हंसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि
वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

यथा :—

वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥

७ अर्थालङ्कार : उपमा और उसके प्रकार

अब अर्थालङ्कार के निरूपण का अवसर है। वैसे तो अर्थालङ्कारों में सादश्यमूलक अलङ्कारों का निरूपण पहले होना चाहिये क्यों कि ये ही प्रधान होते हैं, किन्तु, सबसे पहले, यहाँ 'उपमा' का निरूपण किया जा रह है क्यों कि यही इनका सादृश्यमूलक अलङ्कारों का 'उपजीव्य' अथवा जीवनभूत अलङ्कार है—

'उपमा' वह है, जिसे, एक वाक्य में, दो पदार्थों का ऐसा साम्य कहा जाया करता है जो कि वाक्य होता है और वैधर्म्य (धर्मभेद) से भी रहित होता है।

'रूपक' आदि अलङ्कारों में साम्य व्यङ्ग्य रहा करता है, 'व्यतिरेक' अलङ्कार में वैधर्म्य अथवा धर्म भेद का भी कथन हुआ करता है, 'उपमेयोपमा' में दो वाक्य प्रमुख होते हैं और 'अनन्वय' में एक ही पदार्थ में, साम्य का प्रतिपादन रहा करता है—इस दृष्टि से, 'उपमा' इन सब अलङ्कारों से भिन्न प्रकार का अलङ्कार है।

यह उपमा तब 'पूर्णोपमा' कही जाती है जब कि साधारण धर्म, औपम्यवाचक पद, उपमेय और उपमान—ये चारों वाक्य अथवा शब्द द्वारा प्रतिपादित हुआ करते हैं।

यहाँ कारिका में 'सा' इस पद से 'उपमा' का अर्थ समझना चाहिये। 'चन्द्र इव मनोज्ञं मुखम्' आदि में 'साधारण धर्म' का अभिप्राय दो पदार्थों के परस्पर सादृश्य के हेतुभूत गुण और क्रिया जैसे कि मनोज्ञता आदि का है। 'उपमावाचक' पद 'इव' आदि है और 'उपमेय' से मुख आदि तथा 'उपमान' से चन्द्र आदि समझे जाते हैं।

यह 'पूर्णोपमा' दो प्रकार की होती है—१ ली 'श्रौती पूर्णोपमा', जिसमें 'यथा' 'इव' अथवा 'वा'—ये उपमावाचक शब्द प्रयुक्त रहते हैं अथवा 'इव' के अर्थ में, ('तत्र तस्येव', अष्टाध्यायी ५. १. ११६ से विहित) 'वति' प्रत्यय प्रयुक्त हुआ करता है। और २री 'आर्थी' पूर्णोपमा, जिसमें 'तुल्य', 'समान' आदि उपमावाचक शब्द व्यवहृत होते हैं अथवा 'तुल्य' के अर्थ में, (तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः, अष्टाध्यायी ५. १. ११५ से विहित) 'वति' प्रत्यय का व्यवहार हुआ करता है।

'यथा', 'इव' अथवा 'वा' अपि उपमावाचक शब्द, वैसे तो, उपमान के बाद प्रयुक्त 'तुल्य' आदि शब्दों के ही समान हैं किन्तु इनके रहने पर, इस लिये उपमा को 'श्रौती' कहा करते हैं क्योंकि इनके सुनने मात्र से ही, उपमान और उपयेय में, सादृश्य का सम्वन्ध पता लग जाता है। यही बात 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय के प्रयोग में हुआ करती है। किन्तु 'तुल्य' आदि उपमावाचक पद, 'कमलेन तुल्यं मुखम्' (कमल के तुल्य मुख है) आदि प्रयोगों में, 'उपमेय' के साथ ही संबद्ध होकर, उसी में अपना अभिप्राय अन्त कर देते हैं। "कमलं मुखस्य तुल्यम्" (कमल मुख के तुल्य है) आदि प्रयोगों में, ये, उपमान के साथ संबद्ध होने से उसी में अपने अर्थ की इति श्री करते हैं। 'कमलं मुखं च तुल्यम्' (कमल और मुख तुल्य हैं) आदि स्थलों पर, उपमान और उपमेय—दोनों से संबन्ध रखने के कारण, दोनों में उनका सामर्थ्य समाप्त होता है। इसलिये, इनके प्रयोगों में, उपमान और उपमेय में साम्य का अभिप्राय, इनके (सुनने मात्र से नहीं अपितु इनके) अर्थ के अनुसंधान के बाद ही निकल पाता है जिसके कारण इनके व्यवहार में

उपमा को 'आर्थी' कहा जाया करता है। इसी भांति 'तुल्य' के अर्थ में, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से विहित 'वति' प्रत्यय के प्रयोग में भी उपमा 'आर्थी' ही हुआ करती है।

जैसे कि—

'बाले ! तव मुखस्य सौरभमम्भोरुहवत्=तुम्हारे मुख की सुवास कमल की सी है, 'तव स्तनौ कुम्भाविव पीनौ'=तुम्हारे स्तन कुम्भ जैसे पीन हैं और 'तव शरदिन्दुर्यथा वदनं हृदयं मदयति' शरत्कालीन चन्द्र जैसा तुम्हारा मुख बड़ा हृदयहारी है।

यहाँ श्रौती पूर्णोपमा है।

'तस्याः अधरः सुधावद् मधुरः=उसका अधर अमृत सरीखा मधुर है, 'तस्याः पल्लवतुल्यः पाणिः अतिपेलवः'=उसका हाथ पल्लव सरीखा अत्यन्त सुकुमार है और 'तस्याः चकितमृगलोचनाभ्यां सदशी लोचने च चपले'=और चकितहरिणी की आंखों सरीखी उसकी आंखे चञ्चल हैं।

यहाँ 'आर्थी' पूर्णोपमा है।

लुप्तोपमा

'लुप्तोपमा' वह उपमा है जिसमें, साधारण धर्म आदि अर्थात् उपमान, उपमेय, उपमावाचक और साधारण धर्म—इन चारों में से एक या तीन का प्रयोग नहीं हुआ करता। पूर्णोपमा की भांति, यह भी 'श्रौती' और 'आर्थी' हुआ करती है।

जैसे कि—

'प्रिये ! ते मुखमिन्दुर्यथा=प्रिये ! तुम्हारा मुख चन्द्रमा जैसा है, 'ते पाणिः पल्लवेन समः=तुम्हारा हाथ पल्लव के समान है, 'ते वाचः सुधा इव' =तुम्हारी बोली सुधा सी है, 'ते ओष्ठः बिम्बतुल्यः'=तुम्हारा ओठ बिम्ब के तुल्य है', और, 'ते मनः अश्मवत्'तुम्हारा हृदय पत्थर के सदृश है।

1A 'एकस्योपमेयोपमानत्वे ऽनन्वयः' का. सू. ४
B. यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता । असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥ उद्भट VI. 8
2. न विद्यते उपमेयस्य उपमानान्तरेण अन्वयः संबंधः अत्रेति
3. There is no शब्दपौनरुक्त्य but अर्थपौनरुक्त्य. That it is not absolutely necessary that the same word should be used. उसी शब्द का प्रयोग तो औचिती के आग्रह से।

६—रशनोपमा

उस उपमा को 'रशनोपमा' कहते हैं जिसमें पूर्व-पूर्व वाक्य में प्रयुक्त 'उपमेय' उत्तरोत्तर वाक्य में 'उपमान' बना करता है—

जैसे कि—

(शरद् ऋतु में) शुभ्र-कान्ति-युक्त हंस चन्द्रमा जैसा लगता है, सुन्दर गति-युक्त रमणी हंस जैसी लगती है, स्पर्श में सुखदायक जल रमणी जैसा लगता है और स्वच्छता से युक्त आकाश जल जैसा प्रतीत होता है ।'

७—मालोपमा

इसी प्रकार 'मालोपमा' वह उपमा है जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान रहा करते हैं ।

जैसे कि—

'जैसे कमल से सरसी मनोहर लगती है, चन्द्रमा से रात मनोहर लगती है और यौवन से कामिनी मनोहर लगती है वैसे ही नय (सुन्दर राजनीति) से राज्यलक्ष्मी मनोहर लगा करती है ।'

८—अनन्वयः[2]

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः[1] ॥ ९॥[3]

अर्थादेकवाक्ये । यथा—

'राजीवमिव राजीवं जलं जलमिवाजनि ।
चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः शरत्समुदयोद्यमे ॥'

८—अनन्वय

'अनन्वय' वह अलङ्कार है जहां एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों रूपों में रहा करती है ।

('उपमेयोपमा' में तो एक वस्तु, दो वाक्यों में, उपमान और उपमेय रूप में रहा करती है) इसलिये यहां 'अनन्वय' में यह आवश्यक है कि एक वाक्य में ही, कोई वस्तु, उपमान और उपमेय दोनों रूपों में रहे।

जैसे कि—

'शरद् ऋतु के आगमन पर, कमल कमल जैसे खिल उठे, जल जल जैसा लगने लगा और चन्द्रमा चन्द्रमा जैसा चमक उठा।'

९—उपमेयोपमा

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता।

एतदुपमानोपमेयत्वम्। अर्थाद्वाक्यद्वये। यथा—

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला
तनुरिव विभा विभेव तनुः।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी
सततं विभाति वत यस्य॥'

अत्रास्य राज्ञः श्रीबुद्ध्यादिसदृशं नान्यदस्तीत्यभिप्रायः।

९—उपमेयोपमा

'उपमेयोपमा' वह है जिसमें दो वस्तुएं, क्रमशः उपमान और उपमेय रूप में वर्णित होती हैं।

यहाँ 'एतत्' (यह) का अभिप्राय उपमानता और उपमेयता का है। 'उपमेयोपमा' के लिये यह आवश्यक है कि एक वस्तु का उपमान और उपमेय होना दो वाक्यों में दिखाया जाय।

उदाहरण के लिये—

'उस राजा की बुद्धि उसकी राजलक्ष्मी सी सुशोभित है और उसकी

राजलक्ष्मी उसकी बुद्धि सी सुशोभित हैं। उसकी कान्ति उसकी देह सी सुन्दर है और उसकी देह उसकी कान्ति सी सुन्दर है। इसी प्रकार उसकी धीरता उसकी पृथ्वी सी तथा उसकी पृथ्वी उसकी धीरता सी शोभित होती है।

यहां यह अभिप्राय निकलता है कि उस राजा की लक्ष्मी तथा बुद्धि आदि के सदृश्य अन्य कोई वस्तु नहीं है।

१०—स्मरणालङ्कारः

सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥१०॥

यथा—

'अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जुलम्।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारुचञ्चललोचनम् ॥'

१०—स्मरण

'स्मरण' वह अलङ्कार है जिसमें किसी वस्तु के दर्शन से, उसके सदश अन्य वस्तु की स्मृति वर्णित रहा करती है।

जैसे कि—

'जब मैं खेलते खंजनों से मनोहर इस कमल को देखता हूं, तब, उस सुन्दरी के, चञ्चल नेत्रों वाले सुन्दर मुख का स्मरण हो आता है।'

११—रूपकम्, तद्भेदाश्च

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।

'रूपित' इति परिणामाद्व्यवच्छेदः। 'निरपह्नव' इत्यपह्नुति-व्यवच्छेदार्थम्।

तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥११॥

तद्रूपकम् । तत्र—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् ।
तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥१२॥
प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम् ।

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितं यथा—

'आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे ।
श्रीनृसिंहमहीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥'

अत्र राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रबिम्बमित्यारोपो राजबाहो राहुत्वारोपे निमित्तम् ।

मालारूपं यथा—

'पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः ।
भूभृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान्भुवि ॥'

अत्र पद्माया उदय एव पद्मानामुदयः, सतामागतिरेव सदागमनम्, भूभृतो राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वारोपे निमित्तम् ।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलं यथा—

'पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः ।
त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥

1. 'समस्तानि वस्तूनि विषयः अस्य' - मम्मट
"समस्तम् आरोप्यमाणात्मकं वस्तु अभिधया विषयो यत्र तत् तथोक्तम्" - जयरथ p.3
2. 'एकदेशे आरोपविषयाणां अर्थात् तदात्मकं एव आरोप्यमाणप्रयोजनगति वाद्रताय तद्रूपतया विवर्तते परिणमति यत्र तत् तथा उक्तम्।' - जयरथ p.3
" रूपकसङ्ख्यातस्य अवयवे (७९) अवयवे कस्मिंश्चिद्रूपके विशेषेण शब्दमुखेन स्फुटतया (वर्तते) इत्यर्थः - उद्योत

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम् । मालारूपं यथा—

'मनोजराजस्य सितातपत्रं
श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।
विराजते व्योमसरः सरोजं
कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम् ॥'

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोपश्चन्द्रबिम्बस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपे निमित्तम् ।

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥१३॥
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

तत्र—

आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥१४॥

प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् । यथा—

'रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥'
रघु. १०.४८

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपे वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितम् ।

यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।

कस्यचिदारोप्यमाणस्य । यथा—

'लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।
लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते ॥'

Nor can you say that this is एकदेशविवर्ति simile (exemplified in ...) because the attribute of bloomingness primarily belongs to the lotus alone, which is the thing superimposed (upon the face) and belongs to the face only metaphorically.

अत्र लावण्यादौ मधुत्वारोपः शाब्दः, मुखस्य पद्मत्वाद्यारोप आर्थः ।

निरङ्गं केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा ॥१५॥
मालाकेवलरूपत्वात् तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।

तत्र मालारूपं निरङ्गं यथा—

निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिकालोकचक्षुषाम् ।
क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥

एवमन्यदपि ।

११ रूपक और उसके भेद

'रूपक' वह है जिसमें 'निरपह्नव विषय' पर अर्थात् ऐसे उपमेय पर, जिसका अपह्नव या निषेध न किया जाय, 'रूपित' अथवा भेदरहित उपमान का आरोप दिखाया जाया करता है ।

यहाँ 'रूपित' इस लिये कहा गया जिससे 'परिणाम' अलङ्कार से रूपक का भेद पता चले । 'पणिणाम' अलङ्कार के प्रसङ्ग में इसका स्पष्टीकरण किया जायगा । 'निरपह्नवे' इस लिये कहा गया जिसमें 'रूपक' को 'अपह्न ति' से भिन्न समझा जाय ।

इसके तीन भेद हैं—१ला) परम्परित, २रा) साङ्ग और ३रा) निरङ्ग ।

यहाँ 'तत्' 'रूपक' के लिये प्रयुक्त है ।

१ला परम्परित

इन तीनों भेदों में, 'परम्परित' रूपक वह है जिसमें एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप, अन्यत्र अन्य वस्तु के आरोप का कारण हुआ करता है । यह भी दो प्रकार का होता है—१ला) श्लिष्ट शब्दनिबन्धन (अर्थात् वह जिसका कारण श्लिष्ट शब्द हो) और २रा) अश्लिष्ट शब्दनिबन्धन (अर्थात् वह

जिसका कारण अश्लिष्ट अथवा एकार्थक शब्द ही हो।) ये दोनों प्रकार भी, 'केवल' और 'माला' रूप से दो २ भेदों वाले हुआ करते हैं।

जैसे कि 'श्लिष्टशब्दनिबन्धन' केवल परम्परित रूपक—

'हे महाराज नृसिंह देव ! संग्राम में, संसार के उद्दण्ड राजमण्डल (चन्द्र-मण्डल रूप राजमण्डल) के लिये राहु रूप आपके भुजदण्ड मंगलमय हों।,

यहाँ 'राजमण्डल' में जो आरोप है अर्थात् 'राजमण्डल शब्द के श्लिष्ट होने से, राजमण्डल=नृपसमूह में, राजमण्डल=चन्द्रमण्डल के अभेद की जो कल्पना है उसी के कारण, राजा के बाहुदण्ड पर, राहु का आरोप किया गया है।

इसी प्रकार, 'श्लिष्टशब्दनिबन्धन' मालापरम्परितरूपक—

'महाराज ! आपही इस संसार में 'पद्मोदयदिनाधीश' पद्मा अथवा लक्ष्मी के उदय रूप पद्म अथवा कमल के उदय (विकास) के लिये सूर्य रूप हैं, आप ही 'सदागतिसमीरण' सदागति अर्थात् निरन्तर गति रूप, सदागति अथवा सज्जन समूह के आगमन के लिये वायुरूप हैं और आपही 'भूभृदावलि-दम्भोलि' भूभृदावलि अर्थात् पर्वतपंक्ति रूप भूभृदावलि अर्थात् राजसमूह के लिये वज्र हैं।,

यहाँ 'पद्मोदय' 'सदागति' और 'भूभृदावलि' इन श्लिष्ट पदों से, क्रमशः, पद्मा के उदय पर पद्मों के उदय अथवा विकास, सज्जनों के आगमन पर सदा गति-शीलता तथा राजमण्डल पर पर्वतसमूह के जो काल्पनिक अभेद स्थापित किये जा रहे हैं उन्हीं के कारण, यहाँ वर्णित राजा पर, सूर्य, वायु और वज्र के आरोप सिद्ध हो रहे हैं।

'अश्लिष्टशब्दनिबन्धन' केवल परम्परित रूपक का उदाहरण:—

'मेघ के समान श्यामवर्ण, धनुष की प्रत्यञ्चा के आघात से कठोर किंवा त्रिभुवन रूपी मण्डल के स्तंम्भ बने, भगवान् विष्णु के चारों भुजदण्ड आपकी रक्षा करते रहें।,

यहाँ, भगवान् विष्णु के भुजदण्डों पर, स्तम्भों का जो आरोप किया जा रहा है उसका कारण त्रैलोक्य पर किया गया मण्डप का आरोप है।

इसी प्रकार, 'अश्लिष्टशब्दनिबन्धन' मालापरम्परितरूपक—'यह कर्पूर-पिण्ड की भांति शुभ्र चन्द्र विम्ब कामदेव रूपी राजा के श्वेत राजच्छत्र के रूप में, पूर्वदिशा रूपी रमणी के चन्दनतिलक के रूप में और आकाश रूपी सरोवर के कमल के रूप में सुशोभित हो रहा है।,

यहाँ 'मनोज' आदि पर 'राजा' आदि का जो आरोप है वहीं चन्द्रविम्ब पर, श्वेत राजच्छत्र आदि के आरोप का निदान है।

१०—साङ्गरूपक

'साङ्गरूपक' वह है जिसमें अङ्गी का रूपण उसके अङ्गों के साथ किया जाया करता है। इसके भी दो प्रकार हैं—१ला. समस्तवस्तुविषय और २रा. एकदेशविवर्ति।

इनमें, पहला वह है जिसमें सभी आरोप्य शब्दतः प्रतिपादित रहा करते हैं।

यहाँ 'प्रथमम्' अथवा 'पहले' का अभिप्राय 'समस्तवस्तुविषय' प्रकार के साङ्ग रूपक का अभिप्राय है। उदाहरण के लिये—

'वह कृष्ण रूपी मेघ, रावण रूपी अवग्रह अथवा वर्षाभाव से क्रान्त, देववन्द रूपी सस्य पर, इस प्रकार अपने वाणी रूप अमृत की वर्षा करके कहीं तिरोहित हो गया।'

यहाँ 'विष्णु' पर मेघ का आरोप है और साथ ही साथ उनकी वाणी आदि आदि पर अमृत आदि का आरोप है।

'एकदेशविवर्ति' साङ्ग रूपक उसे कहते हैं जिसमें कोई आरोप्य अर्थतः उपस्थित हो।

यहाँ 'कस्यचित्' शब्द का अथ कोई 'आरोप्य' समझना चाहिये। जैसे कि—

'इस लोक के कौन वे नेत्ररूपी भ्रमर नहीं हैं जो कि इस सुन्दरी के लावण्य रूपी मधुरस से भरे विकसित मुख का पान नहीं करते ।

यहाँ 'लावण्य' आदि पर 'मधु' आदि का जो आरोप है वह तो शब्दतः प्रतिपादित है किन्तु मुख पर कमल का आरोप अर्थतः ही प्रतीत होता है (क्योंकि शब्द द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं किया गया है) ।'

११—निरङ्गरूपक

'निरङ्ग' रूपक उसे कहते हैं जिसमें केवल अंगी का ही रूपण किया जाता है अङ्गों का नहीं, यह भी 'माला' और 'केवल' रूपों से दो प्रकार का होता है जैसे कि 'माला' निरङ्ग रूपक—

'नील कमल से नयनों वाली यह सुन्दरी, वस्तुतः विधाता के रूपनिर्माण का कौशल है, देखने वालों के नेत्रों के लिये चन्द्रिका है और कामदेव का क्रीडागृह है ।'

१२---परिणाम

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥१६॥
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात् परिणामः ।

यथा----

स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम ।
स्तनोपपीडमाश्लेषः कृतो द्यूते पणस्तया ॥

अन्यत्रोपायनपणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु नायकसंभावनद्यूतयोः स्मिताश्लेषरूपतया । प्रथमार्द्धे वैयधिकरण्येन

प्रयोगः, द्वितीये सामानाधिकरण्येन । रूपके 'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः । इह तूपायनादेर्विषयेण तादात्म्येन प्रकृते च नायकसंभावनादावुपयोगः ।

१२—परिणाम

'परिणाम' वह अलङ्कार है जिसमें आरोप्य (उपमान), विषय अथवा उपमेय के रूप में, प्रकृत काय में उपयुक्त होते हुये दिखाया जाया करता है । इसके भी दो प्रकार हैं—१ला. तुल्याधिकरण (अथवा समानाधिकरण) परिणाम और २रा. अतुल्याधिकरग (अथवा व्यधिकरण) परिणाम ।

'परिणाम' को इसलिये परिणाम कहते हैं क्योंकि इसमें 'आरोप्यमाण' अथवा उपमान 'आरोपविषय' अथवा उपमेय के रूप में परिणत हो जाया करता है ।

'उस सुन्दरी ने, दूर से आये मुझे, अपनी मुस्कराहट की भेंट दी और द्यूतक्रीडा में गाढालिङ्गन रूप बाजी भी बदी ।

भेंट तथा बाजी, और जगहों पर तो, वस्त्राभरण के रूप में देने योग्य हैं किन्तु यहाँ ये दोनो प्रेमी के स्वागत और उसके साथ द्यूतक्रीड़ा में, मुस्कराहट ओर गाढालिङ्गन के रूप में दिखाये गये हैं ।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'अतुल्याधिकरण' परिणाम है क्योंकि 'स्मित' (उपमेय) और 'उपायन' (उपमान) में विभक्तियां भिन्न भिन्न हैं । किन्तु इसके उत्तरार्ध में 'तुल्याधिकरण' परिणाम दिखायी देता है क्योंकि 'आश्लेष' अथवा आलिङ्गन (उपमेय) और 'पण' (उपमान) की विभक्तियां एक है । 'रूपक' और 'परिणाम' का भेद इसलिये स्पष्ट है क्योंकि 'मुखचन्द्रं पश्यामि' (मुखचन्द्र देख रहा हूँ) आदि रूपक के प्रसङ्गों में, आरोप्यमाण (उपमान) चन्द्र आदि से मुख आदि (उपमेय) में केवल उपरञ्जन अथवा सौन्दर्याधान ही

· A follows रुय्यक, वामन, एकावली — सन्देह
रुद्रट, मम्मट, उद्भट, जगन्नाथ — ससन्देह
रुय्यक includes it under उत्प्रेक्षा — " अत्र ... सन्देहानुप्रवेश ... "

हुआ करता है न कि प्रस्तुत कार्य जैसे कि दर्शन में कोई लाभ पहुँचता है। किन्तु 'स्मितेन' आदि में जो परिणाम अलङ्कार है उसमें उपायन (भेंट) आदि (उपमान) स्मित (मुस्कराहट) आदि (उपमेय) के साथ एक रूप प्रतीत होते हैं और साथ ही साथ प्रस्तुत कार्य जैसे कि प्रेमी के स्वागत आदि में उपयुक्त भी दिखायी देते हैं।

१२—संदेहः

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥१७॥
शुद्धो निश्चयगर्भोसौ निश्चयान्त इति त्रिधा।

यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः। यथा—

'किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रंभिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य श्रृंगारिणः॥'

यात्रादावन्ते च संशय एव, मध्ये निश्चयः स निश्चयमध्यः।

यथा—

'अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।
कृतान्तः किं, साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पानप्रतिभटाः॥'

अत्र मध्ये मार्तण्डाद्यभावनिश्चयो, राजनिश्चये द्वितीयसंशयोत्थाना-संभवात्।

यत्रादौ संशयोऽन्ते च निश्चयः स निश्चयान्तः। यथा—

'किं तावत् सरसि सरोजमेतदारा—
दाहोस्विन् मुखमवभासते तरुण्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद
बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः॥

अप्रतिभोत्थापिते तु 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे' त्यादि सशये नायमलंकारः।

१३—संदेह

'संदेह' वह अलङ्कार है जिसमें, प्रकृत (उपमेय) में, अप्रकृत (उपमान) का ऐसा संशय रहा करता है जिसमें कवि की प्रतिभा का हाथ दिखायी दिया करता है। इसके तीन प्रकार हैं—१. ला शुद्ध संदेह, २ .रा निश्चयगर्भ संदेह और ३ रा. निश्चयान्त संदेह।

शुद्ध संदेह

'शुद्ध' संदेह उसे कहते हैं जिसकी समाप्ति संशय में ही दिखायी देती है। उदाहरण के लिये—

'क्या यह तरुणी, रसभार से खिली, नव यौवन-पादप की नयी मंजरी है? अथवा क्या यह तट पर उछलती, लावण्य-सागर की कोई लहर है? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यह, अत्यधिक उत्कण्ठित प्रेमी जनों को कामशास्त्र की शिक्षा देने वाले शृंगार के अधिपति मनोभव की 'उपदेश-यष्टि' (छड़ी) है?

निश्चयमध्य संदेह

'निश्चयमध्य' संदेह वह है जिसके आरम्भ और अन्त में तो संशय हो किन्तु मध्य में निश्चय रहा करे। जैसे कि—

"क्या यह सूर्य है ? किन्तु उसके रथ में तो सात घोड़े (सात रंग की रश्मियाँ) हैं ? तब क्या यह अग्नि है ? किन्तु उसका तो नियमतः सर्वत्र फैलना संभव नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि यह यमराज हो ? किन्तु उसका वाहन तो भैंसा है !" इस प्रकार हे राजन् ! संग्राम भूमि में आपको देख २ कर शत्रु-सैनिक तरह २ के संकल्प-विकल्प करते दिखायी देते हैं।

यहां मध्य में यह निश्चय तो हो जाता है कि यह सूर्य आदि नहीं किन्तु यह निश्चय नहीं हो पाता कि यह कोई प्रतापी राजा है क्योंकि यदि राजा का निश्चय हो जाय तब (सूर्य के बाद) अग्नि और यम आदि के संदेह उठ नहीं सकते।

'निश्चयान्त' संदेह

'निश्चयान्त' संदेह वह है जिसके आरम्भ में तो संशय रहता है किन्तु अन्त में उसका निर्णय हो जाया करता है। जैसे कि—'क्या इस सरोवर में कोई कमल है या किसी सुन्दरी का मुख झलक रहा है ? इस प्रकार क्षण भर संशय में पड़े किसी ने उन हाव-भावों को देख कर जोकि कमल में असंभव हैं, अन्त में निश्चय कर ही लिया।

यह 'संदेह' अलङ्कार, 'यह ठूंठ है या आदमी' इत्यादि रूपों के संशयों में, जिनमें कवि की प्रतिभा का कोई हाथ नहीं रहा करता, नहीं माना जाना चाहिये।

१४—भ्रान्तिमान्

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥१८॥

यथा—

'मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाशङ्कया,
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका ॥'

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलंकारः। यथा—'शुक्तिकायां रजतम्' इति।

१४—भ्रान्तिमान्

'भ्रान्तिमान्, वह अलङ्कार है जिसे साम्य अथवा सादृश्य के कारण किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु का ऐसा ज्ञान कहा करते हैं जिसमें कवि की प्रतिभा का हाथ दिखायी दिया करता है।

जैसे कि—

'चन्द्रमा की यह छिटकती घनी चांदनी किस के मन में भ्रम नहीं उत्पन्न कर सकती। मुग्धबुद्धि गोप जब दूध बहते देख कर, गौवों के नीचे घड़े लगा रहे हैं; कामिनियाँ, श्वेत कमलों के धोखे में, नील कमलों को कानों में खोंस रही हैं और भीलों की स्त्रियाँ मोती के भ्रम में पड़कर कर्कन्धू (झरवेरी) के फल बटोर रही हैं।

'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार, उस प्रकार के भ्रम में जो कि 'सीप में चांदी' आदि के अनुभवों में रहा करता है और जिसमें कोई चमत्कार नहीं रहा करता, नहीं माना जाया करता।

१५—उल्लेख

क्वचिद्भेदाद्ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखः यः स उल्लेख उच्यते ॥१९॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'प्रिय इति गोपवधूभिः, शिशुरितिवृद्धैरधीश इति देवैः।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः॥

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणयोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूप्रभृतीनां रुच्यादयो यथायोगं प्रयोजकाः।

यथा वा

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः ।'
(कामदत्वाच्च लोकानामसि त्वं कल्पपादपः ॥)

इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः ।

१५---उल्लेख

'उल्लेख' वह अलङ्कार है जिसमें ज्ञाता अथवा विषय के भेद से एक वस्तु में अनेक प्रकार का उल्लेखन अथवा अनुभव हुआ करता है। क्रमशः उदाहरण ये हैं–

'कृष्ण को गोपवधुओं ने प्रियतम, गोपवृद्धों ने शिशु, देवों ने परमेश्वर, भक्तों ने नारायण और योगिओं ने साक्षात् ब्रह्म माना।

यहाँ भगवान् कृष्ण एक हैं किन्तु उनमें प्रियतम आदि के धर्मों में विराजमान होने से, गोप बधुओं आदि ने, अपनी २ रुचि आदि के अनुसार उन्हें अनेक प्रकार से देखा—इस प्रकार, यहां ज्ञातृभेद से एक वस्तु में अनेक प्रकार का उल्लेख होने से उल्लेखालङ्कार है।

(अथवा यह उदाहरणः—)

'राजन्! आप गम्भीरता के कारण समुद्र हैं और गुरुता के कारण पर्वत हैं'

यहां एक वस्तु में अनेक प्रकार का उल्लेख है। किन्तु इसका कारण (रुचि आदि नहीं अपितु) गम्भीरता आदि के विषयों का भेद है।

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।

१४---अपह्नुतिः

इयं द्विधा। क्वचिदपह्नवपूर्वक आरोपः, क्वचिदारोपपूर्वकोऽपह्नव इति।'

यथा--

'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशि-
र्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो
नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥'

१६--अपह्नुति

'अपह्नुति' अलङ्कार वह है जिसमें प्रकृत अथवा उपमेय का निषेध करके अन्य अथवा उपमान का स्थापन किया जाया करता है ।

इसके दो प्रकार हैं—१ ला वह जिसमें पहले निषेध और बाद में आरोप किया जाता है और २ रा वह जिसमें पहले आरोप और बाद में अपह्नव अथवा निषेध किया जाय ।

जैसे कि–

'यह आकाश नहीं यह समुद्र है; ये तारे नहीं ये नये २ फेन के बुल-बुले हैं; यह चन्द्रमा नहीं, यह कुण्डल मार कर बैठा शेषनाग है और यह कलङ्क नहीं अपितु शेषशायी विष्णु हैं ।'

१७---उत्प्रेक्षा

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥२०॥
वाच्येवादि प्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।

‡ इत्थं शङ्कितानां ... — (i) In each of these two the thing fancied may be either a जाति, गुण, क्रिया, or द्रव्य, they amount to eight. (ii) The fancy may be positive or negative hence varieties are 16. (iii) The source or निमित्त of उत्प्रेक्षा may either be a गुण or क्रिया and thus there are 32 varieties.

(यथा—)

'गङ्गाम्भसि सुरत्राण तव निःशाननिःस्वनः ।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥'

अत्र स्नातीतिक्रिया ।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम् ।
हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया ॥'

अत्र लज्जयेवेतीवाद्यभावात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ।

१७—उत्प्रेक्षा

'उत्प्रेक्षा' वह अलङ्कार है जिसमें प्रकृत अथवा उपमेय की अथवा उपमान के रूप में कल्पना की जाया करती है।

इसके सर्व प्रथम दो प्रकार हैं— १ ला वाच्योत्प्रेक्षा और २ रा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ।

'वाच्योत्प्रेक्षा' वह है जिसमें 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक प्रयुक्त रहा करते हैं और 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' वह जिसमें इन उत्प्रेक्षावाचकों का प्रयोग नहीं हुआ करता ।

(जैसे कि—)

'हे सुलतान ! आपके रणवाद्यों का गर्जन, जिसने शत्रुनारियों का गर्भपात करके बहुत पाप कमाया है, अब गङ्गाजल में मानो स्नान कर रहा है ।'

यहां जिसकी उत्प्रेक्षा की जा रही है वह 'स्नान करने की क्रिया' है ।

'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' का उदाहरण—

'इस सुन्दरी के स्तनयुगल ने अपना मुख इसलिये नहीं दिखाया क्योंकि गुणी (सूत में गुंथे) हार के लिये स्थान न देने से उसे लज्जा लगी ।'

यहां 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' इसलिये है क्योंकि यहां 'लज्जा' के हेतु की जो संभावना की गयी है उसके साथ उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि का प्रयोग नहीं किया गया ।

१२—अतिशयोक्तिः ।

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ॥२१॥

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ।

भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसंबन्धस्तद्विपर्ययौ ।

पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा मता ॥२२॥

तद्विपर्ययौ अभेदे भेदः, असम्बन्धे संबन्धः । सा अतिशयोक्तिः । अत्र भेदेऽभेदो यथा —

'कथमुपरि कलापिनः कलापो
विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं
तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥'

अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः । अभेदे भेदो यथा—

'अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्या सौरभसम्पदः ।
तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥'

संबन्धेऽसंबन्धो यथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

1. This verse is cited by ... as an instance of ससन्देह. ... – This verse cannot be an example of अतिशयोक्ति as there is no certainty here.

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।[1]

अत्र पुराणप्रजापतिनिर्माणसंबंधेऽप्यसंबन्धः ।

असंबन्धे संबन्धो यथा---

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम् ।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम् ॥'

अत्र यद्यर्थबलादाहृतेन संबन्धेन संभावनया संबन्धः कार्य-कारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति । कारणात्प्रथमं कार्यस्य भावे, द्वयो समकालत्वे च क्रमेण यथा---

'प्रागेव हरिणाक्षीणां चित्तमुत्कलिकाकुलम् ।
पश्चादुद्भिन्नबकुलरसालमुकुलश्रियः ॥'

'सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीक्षिताम् ॥' रघु IV. ५.

१८ अतिशयोक्ति

'अतिशयोक्ति' वह है जिसमें 'अध्यवसाय' अर्थात् विषय (उपमेय) के निवारणपूर्वक विषयी (उपमान) के साथ उसका अभेद-ज्ञान सिद्ध रूप में रहा करता है (उत्प्रेक्षा की भांति साध्यरूप में नहीं) ।

इसके पांच प्रकार हैं—१. भेद होने पर भी अभेद वर्णन २. संबन्ध रहने पर भी असंबन्ध वर्णन, इन दोनों का विपर्यय अर्थात् ३. अभेद में भी भेद-वर्णन ४. असंबन्ध में भी संबन्ध-वर्णन और ५. कार्य और कारण के पौर्वापर्य नियम का उल्लंघन ।

यहां 'तद्विपर्ययौ' नियम का अभिप्राय 'अभेद में भेद' और 'असंबन्ध' में 'संबन्ध' का अभिप्राय है। 'सा' (वह) का तात्पर्य 'अतिशयोक्ति' से है।

'भेद में अभेद-वर्णन'–जैसे कि—

'कैसा आश्चर्य है। सबसे ऊपर मोर की पूंछ दिखायी दे रही है, उसके नीचे अष्टमी का चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है, उसके नीचे चञ्चल दो नीले कमल झांक रहे हैं, उनके नीचे तिल का फूल दिखायी दे रहा है और उसके नीचे मूंगा झलक रहा है।'

यहाँ रमणी के केशपाश आदि (विषयी अथवा उपमेय) का मयूरपिच्छ आदि (विषय अथवा उपमान) के रूप में अध्यवसान स्पष्ट है।

अभेद में भेद-वर्णन जैसे कि—

'कमल सरीखे नेत्रों वाली उस रमणी का अंग लावण्य कुछ और ही है, उसके मुख की सुवास कुछ दूसरी ही है और उसकी सरसता भी विचित्र ही है।

संबन्ध में असंबन्ध-वर्णन, जैसे कि—

'क्या इस (उर्वशी) की सृष्टि का प्रजापति कान्तिप्रद चन्द्रमा रहा? या इसकी रचना स्वयं शृंगार के अधिष्ठाता कामदेव ने की? या इसका बनाने वाला कुसुमाकर वसन्त था? क्योंकि वेदाध्ययन से कुण्ठित बुद्धि वाले तथा विषयों से विमुख पुराने मुनि ब्रह्मा इस मनोहर रूप का निर्माण भला कैसे कर पाते!'

यहाँ उर्वशी की सृष्टि के साथ पुराने प्रजापति का संबन्ध होने पर भी असंबन्ध ही प्रतिपादित किया गया है।

असंबन्ध में संबन्ध-वर्णन, जैसे कि—

'यदि चन्द्रमा के मण्डल में दो नीले कमल सटे मिल जांय, तब, कहीं, इस सुन्दरी के मनोहर नेत्रों वाले मुख की उपमा मिल सके।

यहाँ 'यदि' इस पद के अर्थ के सामर्थ्य से, चन्द्रमा में नील कमल के संबन्ध की कल्पना की गयी है।

कार्य और कारण के पूर्वापर भाव के नियम का विपर्यय दो प्रकार से

संभव है—१ ला. कारण से पहले कार्य के सद्भाव-वर्णन में और २ रा. कारण और कार्य की समकालिकता के वर्णन में।

क्रमशः जैसे कि—

मृगनयनी रमणिओं के मन में उत्कण्ठाएं पहले उत्पन्न हुई और खिले हुये बकुल और रसाल की मंजरिओं की शोभा बाद में आयी।

[यहाँ कारण अर्थात् वसन्तश्री के दर्शन के पहिले ही कार्य अर्थात् मृगनयनी रमणिओं के मन में उत्कष्ठा की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।]

'गजगामी रघु ने, एक साथ ही, पिता के सिंहासन और समस्त नपमण्डल पर, आरोहण किया।'

[यहाँ कारण अर्थात् सिंहासन पर आरोहण और कार्य अर्थात् नपमण्डल का वशीकरण दोनों एक साथ ही संपन्न होते हुये वर्णित है।]

१९—तुल्ययोगिता

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥२३॥

अन्येषामप्रस्तुतानाम्। धर्मो गुणक्रियारूपः। उदाहरणम्—

अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः
कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः।
समयेन तेन सुचिरं शयित—
प्रतिबोधितस्मरमबोधिषत ॥

अत्र संध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतानामनुलेपनादीनामेक-बोधनक्रियाभिसंबन्धः।

तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्यचित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥

इत्यत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः ।

१९—तुल्ययोगिता

'तुल्ययोगिता' वह है जिसमें केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का अभिसंबन्ध वर्णित रहा करता है ।

यहाँ 'अन्येषाम्' यह पद 'अप्रस्तुत' पदार्थों का अभिप्राय रखता है । 'धर्म' का तात्पर्य 'गुण' अथवा 'क्रिया' रूप धर्म का है ।

जैसे कि—

'उस सायंकाल ने, चन्दनादि अंगराग, फल, प्रणय-मान में पड़ी रमणियां और दीपकों की वत्तियां—इन सब का ऐसा प्रतिबोधन कर दिया जिसमें सोया हुआ काम जग उठा ।

यहाँ संध्या-समय के वर्णन के प्रस्तुत होने से,—अंगराग पुष्प आदि प्रस्तुत पदार्थों में, एक बोधनरूप क्रिया का संबन्ध स्पष्टतया स्थापित किया गया है ।

अथवा ।

'उस रमणी के अंगों की सुकुमारता का दर्शन करने वाले किस पुरुष के हृदय में, मालती चन्द्रकला और कदली की कठोरता नहीं प्रतीत हो उठती ;

यहाँ, 'मालती' आदि अप्रस्तुत पदार्थों में एक कठोरता रूप गुण का संबन्ध प्रतिपादित किया गया है ।

२०—दीपकम

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥२४॥

क्रमेणोदाहरणम्—

> 'बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
> प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
> सतीव योषित् प्रकृतिश्च निश्चला
> पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥'

अत्र प्रस्तुतायाः निश्चलायाः प्रकृतेःअप्रस्तुतायाश्च योषित एकानुगमनक्रियासंबन्धः ।

> 'दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
> भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा ।
> उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय-
> मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन ॥'

अत्रैकस्या नायिकाया उत्थानाद्यनेकक्रियासंबन्धः ।

२०—दीपक

'दीपक' वह है जिसमें अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का संबन्ध बताया रहता है अथवा अनेक क्रियाओं में एक कारक निर्दिष्ट रहता है ।

क्रमशः उदाहरण—

'विजयाभिलाषी वह शिशुपाल, पहले की तरह, अब भी सारे संसार को कष्ट पहुंचा रहा है । सती-साध्वी स्त्री और कभी न बदलने वाली प्रकृति, वस्तुतः, जन्मान्तर में भी मनुष्य का साथ दिया करती हैं ।'

यहां 'निश्चल प्रकृति' प्रस्तुत पदार्थ है और 'सती-साध्वी स्त्री' अप्रस्तुत पदार्थ और दोनों में अनुगमन रूप एक क्रिया का संबन्ध निर्दिष्ट है ।

'जब तुम' जो उसके प्राणनाथ रहे, उससे दूर चले आये, तब, काम-वाणों से पीड़ित वह बेचारी कभी उठती है, कभी सोती है, कभी तुम्हारे निवास पर जाती है, कभी वहां से लौट पड़ती है, कभी हंसने लगती है और तुरंत ही आह भरने लगती है ।'

यहां उठने, सोने आदि की अनेक क्रियाओं के साथ एक 'नायिका' रूप-कर्तृ कारक का संबन्ध स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।

२१—प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।।२५।।

यथा—

'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।।'

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरणं च क्रियकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचकतया निर्दिष्टा ।

२१—प्रतिवस्तूपमा

'प्रतिवस्तूपमा' वह अलङ्कार है जिसमें, दो वाक्यार्थों में, जिनमें सादृश्य गम्य रहा करता है, एक साधारण धर्म, भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रतिपादित हुआ करता है ।

जैसे कि—

'हे वैदर्भि ! तुम सचमुच सौभाग्यवती हो, क्योंकि, तुमने, अपने महनीय गुणों से, महाराज नल को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। चन्द्रिका को इससे बढ़कर और क्या प्रशंसा हो कि समुद्र को भी वह अपनी ओर चञ्चल बना दिया करती है।'

यहां 'आकर्षण' (आकृष्ट करना) और 'उत्तरलीकरण' (चञ्चल बनाना)—दोनों क्रियायें एक ही पदार्थ हैं और पुनरुक्ति दूर करने के लिये, इन्हें, भिन्न-भिन्न वाचक पदों द्वारा, प्रतिपादित किया गया है।

२२—दृष्टान्तः

२२—दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्

सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः।

उदाहरणम्—

'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥'

२२—दृष्टान्त

'दृष्टान्त' वह अलङ्कार है जिसमें, दो वाक्यों में, धर्म सहित 'वस्तु' (उपमान और उपमेय रूप धर्मों) का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलका करता है।

यहां 'सधर्मस्य' इसलिये कहा गया जिसमें 'दृष्टान्त' से 'प्रतिवस्तूपमा' को पृथक् समझा जाय।

उदाहरण के लिये—

'अच्छे कवियों की सूक्तियां, चाहे उनके गुणों का पता हो न हो, कानों में मधुधार उड़ेल देती है। मालती की माला भी, भले ही उसकी सुगन्ध पहचानी न गयी हो, दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।'

२३—निदर्शना

संभवन् वस्तुसंबन्धेऽसंभवन्वापि कुत्रचित् ॥२६॥
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ।

तत्र संभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना यथा—

'कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति संपदम् ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥'

असंभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना (अनेकवाक्यगा) यथा—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-
स्तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'

२३—निदर्शना

'निदर्शना' वह अलङ्कार है जिसमें, वस्तुओं का अबाधित रहने वाला अथवा बाधित होने वाला संबन्ध, उनमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का बोधक हो जाया करता है ।

अबाधित रहने वाले वस्तु-संबन्ध में निदर्शना, जैसे कि—

'इस संसार में, व्यर्थ के लिये लोगों को कष्ट पहुंचाने वाला ऐसा कौन है जो बहुत देर तक संपदाओं का भोग कर पाये । वस्तुतः निदाघ के दिन के द्वारा, इसी बात को सूचित करते हुये, सूर्य अस्ताचल की ओर चल पड़ा ।'

बाधित होने वाले वस्तु-संबन्ध में (अनेक वाक्यगा) निदर्शना, जैसे कि—

'जो ऋषि, स्वभावतः सुकुमार शकुन्तला के इस शरीर को, तपस्या के कष्टों को सहन करने में समर्थ बनाना चाहता है, वह मानो, नीलकमल के किसलय के किनारों से शमी का पेड़ काटना चाह रहा है।

२४---व्यतिरेकः

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा ।।२७।।

व्यतिरेकः ...

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं निकर्षकारणं च ।

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्वं हेतुद्वयमप्युक्तम् ।

अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा ।,

उदाहरणम्

न्यूनत्वे दिङ्मात्रं यथा---

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ।'

अत्र चन्द्रापेक्षया यौवनस्यासत्वं स्फुटमेव ।

व्यतिरेक

'व्यतिरेक' वह अलङ्कार है जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य अथवा न्यूनत्व वर्णित रहा करता है ।

उपमान से उपमेय के आधिक्य अथवा वैशिष्ट्य का कारण उपमेयगत उत्कर्ष अथवा उपमानगत अपकर्ष है।

उदाहरण के लिए—

'उसका मुख जो कि निष्कलङ्क है उस चन्द्रमा जैसा नहीं जो कि कलङ्कयुक्त है।'

यहां उपमेय (मुख) गत उत्कर्ष के हेतु 'निष्कलङ्कत्व' और उपमान-(चन्द्र) गत अपकर्ष के हेतु 'कलङ्कित्व'-दोनों का प्रतिपादन है।

उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनत्व में (व्यतिरेक), जैसे कि—

'सुन्दरी ! इसमें कोई संदेह नहीं कि चन्द्रमा बार-बार घटते हुए भी बढ़ जाता है किन्तु बीता हुआ यौवन फिर लौट कर नहीं आता। तू प्रसन्न हो जा, मान करना छोड़ दे।,

यहाँ उपमानभूत चन्द्रमा की अपेक्षा उपमेयभूत यौवन का अपकर्ष स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

२५---सहोक्तिः

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ॥२८॥

उदाहरणम्—

सममेव नराधिपेन सा
गुरुसंमोहविलुप्तचेतना।
अगमत्सह तैलबिन्दुना
ननु दीपार्चिरिव क्षितेस्तलम् ॥'

२५—सहोक्ति

'सहोक्ति' वह अलंकार है जिसमें 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से एक पद दो अर्थों का वाचक हुआ करता है और जिसके मूल में अतिशयोक्ति का रहना आवश्यक है।

उदाहरण:—

'अत्यधिक संमोह के करण अचेतन वह इन्दुमती, महाराज अज के साथ ही साथ, ऐसे पृथिवी पर गिर पड़ी जैसे तेल की बूंद के साथ दीपक की लौ नीचे गिर पड़ती है।'

२६—विनोक्तिः

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा।

यथा—

'विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः।
विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत ॥'

२६—विनोक्ति

'विनोक्ति' उसे कहते हैं जिसमें, एक के बिना दूसरा, अशोभन होते अथवा न होते प्रतिपादित किया जाया करता है।

जैसे कि—

'वर्षा के समय के विना चन्द्रमा निर्मल हो गया है और ग्रीष्म के संताप के विना वनवीथी मनोहर लगने लगी है।,

२७—समासोक्ति

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ॥२८॥
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ।

अत्र समेन कार्येण प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः । यथा---

'व्याधूय यद्वसनम्मबुजलोचनाया
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः ।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥'

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः ।

लिङ्गसाम्येन यथा---

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।
अनाक्रम्य जगत् कृत्स्नं नो संध्यां भजते रविः ॥'

अत्र पुंस्त्रीलिङ्गमात्रेण रविसंध्ययोर्नायकनायिकाव्यवहारः ।

विशेषणसाम्यं तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा । तत्र साधारण्येन यथा—

'निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसंगीतशालिनी ।
उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी ॥'

२७--समासोक्ति

'समासोक्ति' वह है जिसमें समान रूप से प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) में समन्वित होने वाले कार्य, लिङ्ग और विशेषण के द्वारा प्रस्तुत (उपमेय) में, अप्रस्तुत (उपमान) के व्यवहार का आरोप किया जाया करता है।

समान रूप से अन्वित 'कार्य' के द्वारा, प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार-समारोप, जैसे कि—

'अरे मलयसमीर! तू ही धन्य है क्योंकि इस कमलनयनी सुन्दरी के स्वर्णकलशसदृश उरोजों से वस्त्र हटाकर, वलात् तुमने इसके अङ्ग प्रत्यङ्ग का आलिङ्गन किया है।'

यहाँ मलयानिल में, जो कि प्रस्तुत है, अप्रस्तुत हठकामुक के व्यवहार का आरोप स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

'लिङ्ग' की समानता से, प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप जैसे कि—

'जिसकी विजयाभिलाषा पूरी नहीं हुई, उस मनस्वी बीर पुरुष के लिये स्त्री की चिंता क्यों? संपूण जगत् पर छाये विना, सूर्य संध्या का संग नहीं किया करता।'

यहां 'सूर्य' के पुल्लिङ्ग और संध्या के स्त्रीलिङ्ग वाचक होने के नाते, सूर्य और संध्या में, नायक और नायिका के व्यवहार का आरोप दिखाई दे रहा है।

'विशेषण की समानता' के तीन प्रकार होते हैं—१. विशेषण की श्लिष्टता, २. विशेषण का समान रूप से समन्वय और ३. उपमानोपमेय भाव का अन्तर्भाव (औपम्यगर्भता)।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समान रूप से विशेषण के समन्वय में 'समासोक्ति,' जैसे कि—

'दिनपति सूर्य के उदय होते, स्वाभाविक सुगन्ध से मतवाले बने भौरों की मधुर गंजार से भरी पद्मिनी मुस्करा उठी।

[यहां 'निसर्ग' आदि विशेषण प्रस्तुत 'पद्मिनी' और अप्रस्तुत 'पद्मिनी स्त्री' में समान रूप से अन्वित होता है जिससे पद्मिनी में नायिका के व्यवहार की प्रतीति हो उठती है। किन्तु इसका कारण पद्मिनी स्त्री से संबद्ध 'स्मेरत्व' (मुस्कराने) के धर्म का समारोप है।]

२८—अप्रस्तुतप्रशंसा

क्वचिद्विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ॥९२॥
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ।
अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद्गम्यते पञ्चधा ततः ॥३१॥
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्

क्रमेणोदाहरणम्—

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥'

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

स्रगियं यदि जीवितापहा
हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवे-
दमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥'

अत्रेश्वरच्छया क्वचिदहितकारिणोऽपि हितकारित्वं हितकारिणोऽप्यहितकारित्वमिति सामन्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहित: ।

एवमन्यदुदाहार्यम् ।

२८--अप्रस्तुतप्रशंसा

'अप्रस्तुतप्रशंसा' वह अलङ्कार है जिसमें १. अप्रस्तुत 'सामान्य' से प्रस्तुत 'विशेष'; २. अप्रस्तुत 'विशेष' से प्रस्तुत 'सामान्य', ३. अप्रस्तुत 'कार्य' से प्रस्तुत 'कारण', ४. अप्रस्तुत 'कारण' से प्रस्तुत 'कार्य' और ५. अप्रस्तुत 'समान वस्तु' से प्रस्तुत 'समान वस्तु' का अभिव्यंजन हुआ करता है ।

क्रमश: उदाहरण ये हैं:--

'अपमानित होने पर भी चुपचाप पड़े रहने वाले उन लोगों से तो वह धूल भी अच्छी है जो कि पैर की चोट लगते ही, चोट लगाने वाले के सिर पर चढ़ बैठती है ।'

यहां अप्रस्तुत 'सामान्य' (देहिन:) का अभिधान है किन्तु उससे प्रस्तुत 'विशेष' का अर्थात् 'शिशुपाल से अपमानित हम लोगों से धल भी अच्छी है' इस अभिप्राय का अभिव्यञ्जन स्पष्ट है ।

'यह माला यदि प्राण ले सकती है तब मेरे हृदय पर पड़ी, यह, मेरा प्राण क्यों नहीं ले लेती । ठीक ही है--ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष बन जाता है ।'

यहां अप्रस्तुत 'विशेष' (विष और अमृत) का अभिधान है और उससे प्रस्तुत 'सामान्य' की अर्थात् 'ईश्वरेच्छा से अहितकर भी हितकर बन जाता है और हितकर भी अहितकर हो जाता है' इस आशय की अभिव्यञ्जना हो रही है ।

इसी भांति अन्य भेदों के उदाहरण देखे जा सकते हैं ।

२९—व्याजस्तुतिः

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ॥३१॥

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः। स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः। क्रमेण यथा—

'स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव ।
त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाताः ॥'

'व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयोदितेयं
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
स्तोत्रं तु ते महदिदं घन ! धर्मराज—
साहाय्यमर्जयसि यत् पथिकान्निहत्य ॥'

२९—व्याजस्तुति

'व्याजस्तुति' वह है जिसमें १. वाच्य निन्दा द्वारा स्तुति व्यङ्ग्य हुआ करती है और २. वाच्य स्तुति द्वारा निन्दा व्यङ्ग्य हुआ करती है।

'व्याजस्तुति' इस पद की व्युत्पत्ति से ही उपयुक्त दोनों अभिप्राय निकलते हैं क्योंकि 'व्याजेन स्तुतिः व्याजस्तुतिः' अर्थात् 'निन्दा के बहाने स्तुति करना' इससे 'वाच्य निन्दा के द्वारा स्तुति के व्यङ्ग्य होने का' अर्थ निकल जाता है और 'व्याजरूपा स्तुतिः व्याजस्तुतिः' अर्थात् 'स्तुति नहीं अपितु स्तुति का बहाना'—इससे 'वाच्य स्तुति के निन्दा के व्यङ्ग्य होने का अर्थ' स्पष्ट हो जाता है।

जैसे कि क्रमशः—

'हे महाराज ! आपके क्रुद्ध होने पर भी शत्रुनारियां पहले की भांति ही विश्वस्त दिखायी पड़ रही हैं क्योंकि उनके स्तनयुगल जैसे पहले 'मुक्ताभरण' (मौक्तिकमाल से सुशोभित) थे वैसे अब भी 'मुक्ताभरण' (आभरण रहित) हैं और उनके अङ्ग जैसे पहले 'कण्टककलित' (प्रेमलीला में रोमाञ्चित) थे, वैसें अब भी 'कण्टककलित' (कांटों से चुभे) हैं।,

'हे पयोद! यह तो मैंने तुम्हारी व्याजस्तुति की है कि तुम्हारा जल जगत् के जीवन का निदान है। तुम्हारी तो वास्तविक स्तुति यह है कि विरहिओं का प्राण लेकर तुम धर्मराज (यम) के सहायक बनते हो।'

३०—अर्थान्तरन्यासः

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ॥३२॥

उदाहरणम्—

'बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
संभूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥

अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषणरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः सोपयत्तिकः क्रियते।

एवमन्यदुदाहार्यम्।

३०—अर्थान्तरन्यास

'अर्थान्तरन्यास' वह अलङ्कार है जिसमें—क) साधर्म्य अथवा ख) वैधर्म्य

से, १--- विशेष के द्वारा सामान्य का, २---सामान्य के द्वारा विशेष का, ३—कारण के द्वारा कार्य का और ४— कार्य के द्वारा कारण का समर्थन रहा करता है। इस प्रकार इसके आठ भेद होते हैं।

जैसे कि—

'बड़े की सहायता मिलने पर, छोटा भी अपना काम पूरा कर लेता है। बड़ी नदी से मिल जाने पर पहाड़ी क्षुद्र नदी भी समुद्र तक जा पहुंचती है।'

यहां 'प्रथमार्ध' में जो अभिप्राय है वह 'सामान्य' रूप का है और उसका समर्थन 'द्वितीयार्ध' के 'विशेष' रूप अभिप्राय द्वारा स्पष्टतया किया जा रहा है।

इसी भांति अन्य भेदों के उदाहरण।

३१—विभावना

विभाना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।।३३।।
युक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ।

विना कारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्योदयः किञ्चिदन्यत्कारणमपेक्ष्यैव भवितुं युक्तः। तच्च कारणान्तर क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तंमिति द्विधा। यथा—

'अनायासकृशं मघ्यमशङ्कतरले दृशौ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ।।'

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम्। अत्रैव 'वपुर्भाति मृगीदशः' इति पाठेऽनुक्तम्।

३१—विभावना

'विभावना' वह अलङ्कार है जिसमें हेतु अथवा कारण के विना काय की उत्पत्ति वर्णित होती है। इसके दो प्रकार होते हैं—१. 'उक्तनिमित्ता' विभावना और २. 'अनुक्तनिमित्ता' विभावना।

विना कारण के कार्य की उत्पत्ति का भी वर्णन, यह निश्चित है कि, किसी न किसी अन्य कारण की अपेक्षा रखकर ही संभव है। यह अन्य कारण कहीं 'उक्त' होता है और कहीं 'अनुक्त' भी और इसीलिये 'विभावना' के दो भेद होते हैं।

जैसे कि—

'यौवन के आते, इस सुन्दरी की कटि विना आयास के ही कृश हो रही है, आंखे विना शङ्का के ही चञ्चल बन गयी हैं और शरीर विना आभूषण के ही मनोहर दीख रहा है।'

यहां इन सब बातों के होने के 'निमित्त' के रूप में 'यौवन' का प्रतिपादन किया गया है। इसलिये यहाँ 'उक्तनिमित्ता' विभावना हुई। यहीं, यदि 'वपुर्वयसि सुभ्रुवः' के बदले 'वपुर्भाति मगीदृशः' कर दिया जाय तो 'अनुक्तनिमित्ता' विभावना हो जायगी क्योंकि इन सब बातों के होने का निमित्त अर्थात् यौवन 'अनुक्त' अथवा अप्रतिपादित है।

३२—विशेषोक्तिः

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ॥३४॥

तथेत्युक्तनिमित्तत्वात्। तत्रोक्तनिमित्ता यथा—

'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः॥'

अत्र महामहिमशालित्वं निमित्तमुक्तम् अत्रैव चतुर्थे पादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे त्वनुक्तम् ।

३२—विशेषोक्ति

'विशेषोक्ति' वह है जिसमें, हेतु अथवा कारण के रहते हुये भी फल अथवा कार्य का न हो सकना वर्णित हुआ करता है। (विभावना की भाँति निमित्त के 'उक्त' और अनुक्त होने से) यह भी दो प्रकार की होती है— १. 'उक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति और २. 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति ।

यहाँ 'तथा' (उस प्रकार का अभिप्राय) निमित्त के उक्त और अनुक्त होने का है।

'उक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति, जैसे कि—

' वे महामहिम महापुरुष धनी होने पर भी उन्मत्त नहीं होते, युवा होने पर भी चञ्चल नहीं होते और प्रभुत्व रखने पर भी प्रमाद नहीं करते।'

यहाँ 'महामहिमशालित्व' इन सब बातों के न होने के निमित्त के रूप में 'उक्त' है। यहीं, यदि चौथे चरण, 'महामहिमशालिनः' को हटा कर कियन्तः सन्ति भूतले, रख दिया जाय तब, निमित्त 'अनुक्त' रह जायगा और यहाँ 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति होगी ।

३३—एकावली

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत्स्यात्तदैकावली द्विधा ॥३५॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।
भृंगा यत्र ससंगीताः संगीतं सस्मरोदयम् ॥'

'न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं
न पङ्कजं तद्‌यदलीनषट्‌पदम् ।
न षट्‌पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ।।

३३—एकावली

एकावली, यह अलङ्कार है जिसम पहले-पहले के लिए अगले-अगले का विशेषण रूप में स्थापन (रखना) और अपोहन (हटाना) हुआ करता है और इसलिये इसके दो प्रकार हो जाते हैं ।

क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'सरोवर ऐसे हैं जिनमें खिले कमल भरे हैं; कमल ऐसे हैं जिनमें भ्रमर भरे हैं; भ्रमर ऐसे हैं जिनमें मधुर ध्वनि भरी है और वह मधुर ध्वनि ऐसी है जिनमें काम जगाने की शक्ति भरी पड़ी है ।'

'ऐसा कोई जलाशय न था जिसमें सुन्दर खिले कमल न थे; ऐसा कोई कमल न था जिसमें भौंरे न छिपे बैठे थे; ऐसा कोई भौंरा न था जो मीठी गुंजार न कर रहा हो और ऐसी कोई उनकी गुंजार न थी जो सुनने वाले का मन न हर लेती हो ।'

३४—स्वभावोक्तिः

स्वभावोक्तिर्दुरुहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ।

दुरुहयोः कविमात्रवेद्ययोरर्थस्य डिम्भादेःस्वयोः तदेकाश्रययोरुचेष्टास्वरूपयोः । यथा—

'लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्या-
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण ।।

स्फूर्जद्घूङ्कारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेव जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ॥'

३४—स्वाभावोक्ति

'स्वाभावोक्ति, वह है जिसे पदार्थों के दुरूह स्वाभाविक क्रियाकलाप किंवा स्वरूप का वर्णन कहा करते हैं।'

यहां 'दुरुहयोः' का अभिप्राय 'केवल कवि द्वारा होने वालों' का है, 'अर्थ' से तात्पर्य बालक आदि पदार्थों से है, और 'स्वक्रिया रूप वर्णन' से (बालक आदि के, कविमात्र-संवेद्य) स्वभाव सुलभ चेष्टादि तथा स्वरूप का वर्णन समझना चाहिये।

जैसे कि—

'बार बार पूछ फटकार कर, अगले पंजों से जमीन खोदता हुआ अपने में सिकुड़ने के बाद शीघ्र जोर से ऊपर उछलता, भयङ्कर 'धूं-धूं' शब्द करता, चारों ओर जीव-जन्तुओं में भगदड़ मचाता, क्रुद्ध किंवा लाल लाल फैली हुई आँखें दिखाता यह लकड़बग्घा जंगल में घुसा जा रहा है।'

३५—संसृष्टिः

मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ॥

एतेषां शब्दार्थालङ्काराणाम्। यथा—

'देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥'

अत्र पायादपायादिति यमकम्। संसारेत्यादौ चानुप्रास इति

शब्दालङ्कारयोः संसृष्टिः। द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपक-मित्यर्थालङ्कारयोः संसृष्टिः। एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालङ्कार-संसृष्टिः

३५—संसृष्टि

'संसृष्टि' वह अलङ्कार है जिसे परस्पर निरपेक्ष शब्दालङ्कार और अर्था-लङ्कार की एकत्र स्थिति कहा करते हैं।

यहां 'एतेषाम्' (इनका)—इस पद से शब्द और अर्थ के उपयक्त अलङ्कार समझे जाते हैं।

उदाहरण के लिये—

'विकसित कमलसदृश नेत्र वाले, संसार रूपी अन्धकार को हटाने के लिये हंस (सूर्य)—स्वरूप, कंसनिषूदन भगवान् कृष्ण 'अपाय' अथवा संकटों से 'नः पायात्' हम सब की रक्षा कर।'

यहां 'पायादपायात्' में यमक है और 'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः' में वृत्यनुप्रास है। इस प्रकार 'यमक' और 'वृत्यनुप्रास' भी एक श्लोक में स्थित होने से यहां दो शब्दालङ्कारों की 'संसृष्टि' है। इसी प्रकार, दूसरे चरण अर्थात् 'स्मेरेन्दीवरलोचनः' में उपमा है और श्लोक के द्वितीयार्ध अर्थात् 'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः' में रूपक है। इस लिये यहां एकत्र स्थित दो अर्थालङ्करों की संसष्टि है। इस प्रकार शब्द और अर्थ—दोनों के अलङ्कारों के एकत्र अवस्थान में यहां शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की 'संसृष्टि' स्पष्ट है।

३६—संकरः

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
संदिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः ॥३६॥

यथा—

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरः सरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥'

अत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तेरङ्गम् ।

संदेहसंकरो यथा—

'इदमाभाति गगने भिन्दानं संततं तमः ।
अमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवम् ॥'

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाऽध्यवसानादतिशयोक्तिः, उत 'इद'मिति मुखं निर्दिश्य चन्द्रत्वारोपाद्रूपकम्, अथवा 'इद'मिति मुखस्य चन्द्र-मण्डलस्य च द्वयोरपि प्रकृतयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता, आहोस्विच्चन्द्रस्याप्रकृतत्वाद्दीपकम्, किंवा विशेषणसाम्यादप्रस्तु-तस्य मुखस्य गम्यत्वात् समासोक्तिरिति बहूनामलङ्काराणां संदेहात् संदेहसंकरः ।

एकाश्रयानुप्रवेशो यथा—

'संसारध्वान्तविध्वंस' इत्यत्र रूपकानुप्रासयोः ।

इतिसाहित्यदर्पणसारसंग्रहेऽलंकारनिरूपणो नाम दशमः परिच्छेदः ॥

समाप्तश्चायं साहित्यदर्पणसारसंग्रहः ।

३६—संकर

'संकर' वह है जिसे—१. अलङ्कारों के अङ्गाङ्गिभाव २. एक शब्द अथवा अर्थ रूप आश्रय में एक से अधिक अलङ्कारों के अवस्थान और ३. अनेक अलङ्कारों के संदेह में, तीन प्रकार से, देखा जाया करता है।

जैसे कि—

'संध्या अनुराग से भरी है और दिन उसके सामने खड़ा है। किन्तु दैव की गति विचित्र है क्योंकि, इतना होने पर भी, दोनों का मेल नहीं हो पाता।'

यहां 'समासोक्ति' अलङ्कार 'विशेषोक्ति' अलङ्कार के अङ्ग रूप से विराजमान है जिससे कि इन दो अर्थालङ्कारों के अङ्गाङ्गिभाव में यहां 'संकर' स्पष्ट दीख रहा है।

अलङ्कारों के संदेह में 'संकर' जैसे कि—

'अंधेरे को दूर करना, नेत्रों का अत्यधिक आनन्ददायक, यह चन्द्रबिम्ब गगनमण्डल में चमक रहा है।'

यहां 'अतिशयोक्ति' हो सकती है क्योंकि 'मुख' में 'चन्द्र' रूपता का अध्यवसान प्रतीत हो रहा है, 'रूपक' हो सकता है क्योंकि 'इदम्' (यह)-इस पद से मुख का निर्देश करके उस पर चन्द्ररूपता का आरोप किया लग रहा है; 'तुल्ययोगिता' की भी संभावना है क्योंकि 'इदम्' पद से निर्दिष्ट 'मुख' और 'चन्द्रबिम्ब'—दोनों प्रकृति पदार्थों में, 'नयनानन्दकारित्व' रूप एक धर्म का अभिसंबन्ध भी दिखाई पड़ रहा है; 'दीपक' भी संभव है क्योंकि 'चन्द्रबिम्ब' को अप्रकृत पदार्थ मान सकते हैं और 'विशेषोक्ति' भी हो सकती है क्योंकि विशेषण-साम्य से अप्रस्तुत 'मुख' का अर्थ अभिव्यङ्ग्य माना जा सकता है—इस प्रकार कई एक अलङ्कारों में यहां संदेह है जिससे यहां 'संदेह-संकर' स्पष्ट झलक रहा है।

एक शब्द अथवा अर्थ रूप आश्रय में अनेक अलङ्कारों के अवस्थान में 'संकर' ('एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर) जैसे कि—

'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषदनः'

आदि पूर्वोद्धत श्लोक ।

यहां 'रूपक' और 'अनुप्रास' एक आश्रय में अनुप्रविष्ट हैं ।

साहित्यदर्पणसारसंग्रह : 'अलङ्कारनिरूपण' नामक

१० म परिच्छेद समाप्त ।

—साहित्यदर्पणसारसंग्रह—

॥ शमिति ॥